राजेन्द्र यादव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

हैदराबाद विश्वविद्यालय, पी-एच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

1995

प्रस्तुतकर्त्री
के. जी. लक्ष्मी,
एम. ए., बी. एड्., एम. फिल्.,

निर्देशक
डॉ. रविरंजन,
पी-एच.डी.
लेक्चरर, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद–500 046.

विभागाध्यक्ष
प्र. शशि मुदिराज,
डी.लिट्.
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद–500 046.

Name of the research scholar : K. G. LAKSHMI.

Department / Centre : HINDI.

University of Hyderabad

This is to certify that I, K. G. LAKSHMI.

have carried out the research embodied in the present thesis for the full period prescribed under the Ph.D. Ordinances of the University.

I declare that no part of this thesis was earlier submitted for the award of any research degree or diploma to any university.

K. G. Lakshmi

SIGNATURE

DATE : 31.7.95

31.7.95

(RESEARCH SUPERVISOR)

(HEAD OF DEPARTMENT/CENTRE)

Prof. & Head, Dept. of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
HYDERABAD-500 134

(DEAN OF SCHOOL)

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
University of Hyderabad,
Hyderabad-500 134.

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका	पृष्ठ संख्या
भूमिका	1 - 17
1. प्रथम अध्याय	18 - 58
साहित्य का समाजशास्त्र और उपन्यास	19 - 29
(क) शब्दकर्म और समाज	30 - 34
(ख) रचनाकार और समाज	34 - 38
(ग) साहित्य रचना और पाठक	39 - 44
(घ) उपन्यास का समाजशास्त्र	45 - 57
निष्कर्ष	58
2. द्वितीय अध्याय	59 - 106
भारत में पूँजीवादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एवं राजेन्द्र यादव के उपन्यास	60 - 64
(क) ढहते सामन्ती मूल्य तथा पूँजीवाद का अभ्युदय	64 - 79
(ख) सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तथा मध्यवर्ग का उदय ।	79 - 93
(ग) पूँजीवादी जीवनमूल्य एवं मानवीय सम्बन्धों में दरार ।	94 - 105
निष्कर्ष	105 - 106

3· तृतीय अध्याय 107 – 153

राजेन्द्र यादव के उपन्यास एवं मध्यवर्ग 108 – 109

(क) वर्गीय दृष्टि तथा उसका अतिक्रमण 110 – 122

(ख) स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय सामाजिक जीवन की विडम्बना 122 – 142

(i) मूल्य संघर्ष एवं सम्बन्धों का विघटन 124 – 126

(ii) आर्थिक विषमता एवं विसंगतिपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध 127 – 129

(iii) अलगाव और अकेलापन 129 – 134

(iv) यौन सम्बन्धों में विसंगतियाँ 134 – 142

(ग) स्त्री पुरुष के बदलते सम्बन्ध 142 – 152

निष्कर्ष 152 – 153

4· चतुर्थ अध्याय 154 – 203

राजेन्द्र यादव के उपन्यास शिल्प वैशिष्ट्य 155 – 156

(क) रचना-प्रक्रिया 156 – 163

(ख) कथा-योजना 163 – 174

(ग) पात्र नियोजन 175 – 188

(घ) भाषा शैली 189 – 203

निष्कर्ष 203.

उपसंहार 204 – 224

परिशिष्ट (क) : राजेन्द्र यादव : एक बहुआयामी व्यक्तित्व 226-25

परिशिष्ट (ख) : साक्षात्कार 251-25

संदर्भ ग्रन्थ सूची 258-274

भूमिका

संसार में मनुष्य जीवन सम्बन्धी बहुत सी ऐसी बातें नित्य होती रहती हैं, जिनका इतिहास लिखित रूप में उपलब्ध नहीं है। पर जो बड़े महत्व की होती हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन इन छोटी छोटी घटनाओं का जोड़ है। कई बार इतिहास उन सूक्ष्म व्यापारों को सतही तौर पर देखकर छोड़ देता है, जिनसे जीवन का तार बंधा रहता है। पर सृजनात्मक साहित्य लेखन के क्षेत्र में उपन्यास ही एक ऐसी विधा है जो इसकी गहराई में पैठकर गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित कर सकती है। इस विधा की सशक्तता को डी॰एच॰लारेन्स नामक पाश्चात्य विद्वान ने इस प्रकार स्वीकार करते हुए लिखा है --

" उपन्यास जीवन की एक उज्जवल पुस्तक है। पुस्तक जीवन नहीं है, वे सिर्फ हवा में थरथराहट पैदा करती है। लेकिन उपन्यास एक ऐसी थरथराहट है जो समूचे जीवित मनुष्य को कंपा सकती है। कविता, दर्शन, विज्ञान या किसी भी पुस्तक की थर - थराहट से कहीं ज्यादा जबरदस्त उपन्यास की थरथराहट है।" [1]

---

1. डी॰एच॰लारेन्स : पूर्वाग्रह (अंक 46-47) से उद्धृत - पृ॰ 1॰

उपन्यास का विषय है मनुष्य । मनुष्य की जिस अन्तरात्मा को उपन्यास ने अपना केन्द्र बिन्दु बनाया था, उसी चीज ने उपन्यास को कथ्यात्मक बिरादरी की अन्य समस्त विधाओं से अलग भी कर दिया । एपिक, आख्यायिका, दन्त कथा, फेबल इत्यादि की तुलना में उपन्यास में पहली नज़र में अन्तर देख पाना मुश्किल है । क्यों कि इन सबों में एक चीज समान रहती है, वह है - कहानी, पर उपन्यास सिर्फ़ कहानी सुनाने का माध्यम नहीं संयुक्त परिवार है, उसकी कोई उपशाखा मात्र नहीं । दूसरे शब्दों में उपन्यास एक शुद्ध " सेक्यूलर " विधा है, जिसमें से समस्त देवी, देवताओं, प्रकृति के अलौकिक चमत्कारों और नियति की भविष्यवाणियों को बहिष्कृत कर दिया गया है । यहाँ सब कुछ व्यक्ति के स्वायत्त स्वेच्छाचारी निर्णयों पर निर्भर है, इसलिए सबकुछ आकस्मिक और सांयोगिक है ।

यह मानी हुई बात है कि साहित्य-रूपों के उद्‌भव और विकास का सामाजिक इतिहास से गहरा सम्बन्ध होता है । उपन्यास के उदभव और विकास में भी सामाजिक इतिहास का ही हाथ था । उपन्यास का उद्‌भव आधुनिक युग में सबसे पहले यूरोप में ही हुआ । क्यों कि वहाँ इसके उद्‌भव के ऐतिहासिक, सामाजिक इतिहास से गहरा सम्बन्ध होता है । उपन्यास के उद्‌भव और विकास में भी सामाजिक इतिहास का ही हाथ था । उपन्यास का उद्‌भव आधुनिक युग में सबसे पहले यूरोप में ही हुआ । क्यों कि वहाँ इसके उदभव के ऐतिहासिक, सामाजिक और विचारात्मक आधारों का पहले विकास हुआ था ।

बाद में धीरे-धीरे उपन्यास सारी दुनियाँ में फैला और विश्व व्यापी आधुनिक साहित्य रूप बन गया । यह सही है कि आधुनिक साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास का स्वरूप सार्वभौम है, लेकिन उसका रचनात्मक रूप सारी दुनियाँ में एक जैसा नहीं है । यूरोप में उपन्यास साहित्य का विकास रोमांटिक कला साहित्य से हुआ । यूरोप का रोमांटिक कथा-साहित्य और भारतीय प्रेमाख्यानों को अरबों के माध्यम से विश्व-यात्रा के समय उनसे निश्चित रूप में प्रभावित हुआ होगा । मिलान - कुन्देरा ने लिखा है कि पश्चिम में उपन्यास आज जाल में फंस गई दुनिया की पड़ताल करने की अभिप्राय है । पर भारत में स्थिति ऐसी नहीं है ।

भारत में उपन्यास का जन्म अभिशप्त स्थितियों में हुआ । उस अभिशाप की छाया भारतीय उपन्यास पर लम्बे अरसे तक पड़ती रही । उपनिवेशवाद के कारण भारतीय समाज के यथार्थ और भारतीय जनता की चेतना में ऐसे अन्तर्विरोध थे जो उपन्यास के स्वाभाविक विकास में बाधक थे । यूरोप में उपन्यास का उदय जिन परिस्थितियों में हुआ था, उनके ठीक विपरीत परिस्थितियाँ यहाँ मौजूद थीं । भारत में न तो औद्योगीकरण हुआ था और न मध्यवर्ग विकसित हुआ था । यहाँ जो नाममात्र का औद्योगीकरण हो रहा था, वह भारतीय समाज के स्वाभाविक विकास का परिणाम न था । और बाद में जब मध्यवर्ग का उदय हुआ तो इस मध्यवर्ग में भी पश्चिम के बुर्जुआ वर्ग की तरह स्वतन्त्रता की भावना नहीं थी । इस प्रकार के मध्यवर्ग का विकास बंगाल में हुआ क्योंकि वहीं सर्वाधिक एवं सर्व प्रथम अंग्रेजों के सम्पर्क में

आया । इसीलिए वहाँ उपन्यास का विकास भी दूसरी भारतीय भाषाओं से पहले हुआ । यहाँ उपन्यास का सर्वप्रथम विकसित होने का एक दूसरा कारण यह भी था कि वहाँ पत्र-पत्रिकाओं का विकास भारत की दूसरी भाषाओं से पहले हुआ ।

हिन्दी उपन्यास के आधुनिक विकास की बात यथार्थवाद से जुड़ी है और यथार्थवाद मुख्यत: पश्चिमी विचार-धारा है, लेकिन विचार या विचारधारा का प्रभाव एक-दूसरे ही स्तर पर पड़ता है । रचनात्मकता तक पहुँचते-पहुँचते यह इतना छन जाता है कि अक्सर दूसरा रूप ले लेता है । परन्तु इस 'कान्सेप्ट' से जरा हट कर गोविन्द मिश्र हिन्दी उपन्यास के विकास के बारे में कहते हैं कि

" हिन्दी में उपन्यास पश्चिम से आई हुई विधा है - मुझे इस मूल अवधारणा से ही मतभेद है हिन्दी या भारत की किसी भी क्षेत्रीय भाषा में उपन्यास की परम्परा पश्चिम के उपन्यास की नहीं बल्कि एक अलग कथाधारा की थी जिसकी शुरूआत संस्कृत कथा-साहित्य में मिलती है । महाभारत जिसे पाँचवा वेद कहा गया है, उसकी परिकल्पना में सर्वसमवेती तत्व प्रमुख था । इस महाकाव्य में चरित्र, विधान जीवन के मूल प्रश्नों से जूझना, कला, वार्तालाप ··· ऐसे कितने तत्व ढूंढे जा सकते हैं जो उपन्यास के प्रमुख तत्व बने । इस क्लासिकल युग में काव्य होते हुए भी महाभारत में बोलचाल की भाषा का प्रयोग एक गौर करने की चीज है । महाभारत अगर श्लोकों में न

बँधा गया होता, तो उपन्यास हो था - विराट् जीवन को पूरे का पूरा उठा लेने वालो कृति यहाँ तक कि चरित्रों में मानसिक, तनाव भो जगह जगह पर मिलता है ।"[1] अपनी इसो आलेख में आगे उनको स्थापना यह है कि हिन्दो उपन्यास संस्कृत कथा साहित्य की दो धाराओं -- क्लासिकल कलात्मकता और लोकप्रिय उपदेशात्मक कथा - त्मकता और लोकप्रिय उपदेशात्मक कथात्मकता के बोच से ही निकला है ।

अब इसो के साथ एक प्रश्न यह जुड़ जाता है कि प्रथम भारतोय उपन्यास किसे माना जाए ?

उस समय भारतोय उपन्यास को पश्चिम की देन समझ कर कुछ भारतोय अपनो हो भाषा में " अंग्रेजो ढंग का नॉवेल' लिखने में संलग्न थे । जिसका एक उदाहरण लाला श्रोनिवास दास का " परीक्षा गुरू " है । जिसे आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में " अंग्रेजो ढंग का पहला उपन्यास " माना । पर हर किसी सृजनात्मक उपन्यासकार से इस प्रकार का उपन्यास न लिखा गया । जिनमें बंकिमचन्द्र का नाम अग्रगण्य है । जिन्हें प्रथम भारतोय उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है । इन्होंने " दुर्गेशनन्दिनो " ﴾ 1865 ﴿ नामक पहला उपन्यास प्रकाशित किया और एक साल के बाद " कपालकुण्डला " ﴾ 1866 ﴿ फिर मृणालिनो ﴾1869﴿

1· उपन्यास को मौजूदा हालत " शीर्षक आलेख : पूर्वग्रह ﴾ अंक 46-47 ﴿ गोविन्द मिश्र - पृ· 33 - 34·

सामने आया । ये सभी उपन्यास "अंग्रेजी ढंग का नॉवेल " नहीं थे, बल्कि ये तीनों ही संस्कृत की " कादम्बरी " की याद दिलाते है । यह एक बड़ी विचित्र बात है कि एक लेखक परम्परा को छोड़कर आधुनिक ढंग की कृति रचना चाहता है । पर परम्परा उसके अवचेतन मन पर इस प्रकार अधिकार किए बैठी है कि वह उसी से संचालित होता है । बंकिम के इन उपन्यासों को पढ़कर तत्कालीन विद्वानों एवं आलोचकों ने यही निष्कर्ष निकाला कि उनके उपन्यासों के लिए सही नाम " रोमांस " है बल्कि " अंग्रेजी ढंग का नॉवेल " नहीं । इस प्रकार बंकिम के रोमांस-धर्मी उपन्यासों ने " अंग्रेजी ढंग के नॉवेल " के लेबल से बचते हुए भारतीय राष्ट्र और भारतीय उपन्यास को अपनी पहचान बनाने में पहल की । तभी 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का अन्त राष्ट्रीय पराजय में हुआ । पर भारतीयों ने मानसिक स्तर पर इस पराजय को स्वीकार नहीं किया । तब भी उसकी कल्पना में एक स्वतन्त्र भारत की छवि थी । बंकिम चन्द्र के उपन्यासों के माध्यम से " राष्ट्रीय रूपक " की परिकल्पना हुई । तत्कालीन परिस्थिति में भारतीयों के सोए हुए शौर्य को जगाने में उपन्यास विशेष कर बंकिमचन्द्र के उपन्यासों ने कोई कसर न छोड़ी । इतिहास भी उपन्यास के समान ही एक प्रकार की कल्पसृष्टि है । जिसे स्वयं बंकिम चन्द्र ने स्वीकार किया है ---

" इतिहास का उद्देश्य कभी-कभी उपन्यास द्वारा सिद्ध हो जा सकता है । उपन्यास लेखक सर्वत्र सत्य (तथ्य) की श्रृंखला में नहीं बंधे होते । इच्छानुसार वे अपनी अभीष्ट सिद्दि के लिए कल्पना का आश्रय ले लेते हैं । पर सर्वत्र उपन्यास इतिहास के आसन को ग्रहण नहीं कर सकता ।" [1]

बंकिम के उपन्यासों से राष्ट्र प्रेम का सन्देश आसानी से सम्प्रेषित हो सका । " राजसिंह " के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा भी है कि " हिन्दुओं का बाहुबल ही मेरा प्रतिपाद्य है । ...... अंग्रेजी साम्राज्य में हिन्दुओं का बाहुबल लुप्त हो गया है ।" [2] बंकिमचन्द्र की तीनों ही प्रसिद्ध उपन्यास " रोमांस " के जीते-जागते उदाहरण हैं । यह तीनों उपन्यास दुखान्त है जहाँ आत्मबलिदान पर जोर दिया गया है । जो भी हो इसमें शक नहीं कि बंकिम के प्रेम केन्द्रित रोमांस कोरे प्रेम से कुछ अधिक अर्थ व्यंजित करते हैं । प्रेमियों का आत्मबलिदान वहीं राष्ट्रीय आदर्श के लिए आत्मबलिदान का संदेश होता है तो वहीं प्रेमियों का मिलन प्रसंग अधिक व्यापक एकता की ओर संकेत करता है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि 19 वीं

1· बंकिम की प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास " राजसिंह " (1882) के चौथे संस्करण के "विज्ञापन " में उन्होंने स्वयं लिखा ।

2· - वही -

शताब्दी के भारतीय " रोमांस " लोकरंजन तक ही सीमित न थे, बल्कि उनमें एक राष्ट्रीय भावना भी अन्तर्निहित थी । सतही तौर में बेशक वे यथार्थ से दूर लगे पर गहराई से देखें तो वे सत्य के निकट सत्य के निदेशक होने के साथ-साथ अन्तर्वस्तु में राष्ट्रीय रूप का आभास भी देते थे । हिन्दी में हजारी प्रसाद द्विवेदी की " बाणभट्ट की आत्मकथा " नामक उपन्यास का उद्देश्य भी बहुत कुछ बंकिम के समान है । इसका कारण यह है कि यह किसकी आत्मकथा है ? इस उपन्यास के किसी पात्र की या प्रकाशक की या लेखक की ? तो विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला कि यह आत्मा की " कथा " है । आत्मा तो सार्वभौमिक होता है । वह किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं " रूपक " का अर्थ भी " व्यक्ति " और " समूह " से अलग नहीं है । " व्यक्ति की कथा " " समूह की कथा " है । ऐसी परिस्थिति में " बाणभट्ट की आत्मकथा " आधुनिक भारत का " राष्ट्रीय रूपक " माना गया ।

हिन्दी उपन्यास जैसी किसी भी विधा के आधुनिक विकास की बात " यथार्थवाद " से जुड़ती है । यथार्थवाद मुख्यत: एक पश्चिमी कानसेप्ट है । पर प्रेमचन्द से हिन्दी उपन्यास में यथार्थवाद की शुरू - आत मानी जाती है, लेकिन उनके यहाँ यथार्थवाद ने जो प्रेमचन्दीय रंग दिखाया वह बहुत कुछ भारतीय था । उन्होंने यथार्थवाद के आदर्श-वादी रूप को अपनाया । जिस कारण दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द की रचनात्मकता में भारतीयता पहले है, यथार्थवाद बाद में । पर कुछ

हो न हो हिन्दी उपन्यास को तिलस्मी और ऐयारी की गुफाओं निकालकर जीवन के राजपथ पर ला खड़ा करने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है ।

मुझे ऐसा लगता है कि यथार्थवाद हो चाहे, आधुनिकता या पूंजीवाद या मार्क्सवाद, ये सभी विचार धाराएँ हमारे लिए पश्चिम से आई हुई है । ये सभी विचारधाराएँ हर समाज को एक ही ढंग से प्रभावित करे, ये जरूरी भी नहीं है । प्रत्येक समाज इसके प्रभाव को अपने ढंग से स्वीकार करेगा । जहाँ तक यथार्थवाद का सवाल है । प्रेमचन्द युग की समाप्ति से अब तक तकरीबन चार दशक के अन्दर हमने यथार्थवाद के प्राय: हर रूप को हिन्दी उपन्यास के अन्तर्गत पाया । सामाजिक यथार्थ, व्यक्ति यथार्थ, अन्तर्मन का यथार्थ, परिवेश का यथार्थ, यहाँ तक कि अनुभववाद भी - सभी कोनों में हम थोड़ा बहुत झाँक आए है । फिर भी यशपाल, जगदीशचन्द्र, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित जैसे उपन्यासकारों ने परिवेश के यथार्थ को ज्यादा महत्व दिया है । परवर्ती काल में विशेषकर स्वातन्त्र्योत्तर काल में तो उपन्यासकारों ने परिवेश के यथार्थ को ही नहीं बल्कि जनजीवन के हर कोने में झाँका और यथासम्भव तटस्थ होकर स्थिति को जैसे का तैसा सामने रखने का प्रयत्न किया है । इस परिप्रेक्ष्य में कुछ उपन्यासकार उल्लेखनीय भी है -- जैसे - मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, मन्नू भण्डारी, गोविन्द मिश्र एवं राजेन्द्र यादव ।

" राजेन्द्र यादव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण " प्रस्तुत पी॰एच॰डी॰ शोध प्रबन्ध का विषय है । आरम्भ से ही उपन्यास लेखन का आधार " समाज " रहा है । अर्थात् दूसरे शब्दों में " सामाजिक यथार्थ " जिसके मूल में निश्चित रूप से किसी न किसी प्रकार की समस्या का हाथ होता है । इसी समस्या का तटस्थ होकर सजीव चित्रण सामाजिक यथार्थ कहलाती है जैसे कि पहले ही हमने देखा व्यक्ति यथार्थ अन्तर्मण का यथार्थ और परिवेश का यथार्थ इत्यादि समाज की ही देन है एवं उसी के अंग भी है । विशेषकर स्वातन्त्र्योत्तर काल को विद्वानों ने " मोहभंग " का काल कहा है । क्यों कि इस काल में हमारी आशा के विपरीत स्थितियाँ उभरी जिसके लिए भारतीय मानसिक रूप से तैयार न थे । तत्कालीन परिस्थितियों ने ऐसी समस्याएं प्रस्तुत की जो वर्णनातीत है । पर हमारे उपन्यासकार वर्ग समस्याओं को जैसे का जैसा निगलकर तटस्थ न रह पाए । बल्कि अपने लेखन के माध्यम से समस्याओं और यथा-सम्भव समाधान का राह भी दिखलाया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हमारे समाज के तेजाबी यथार्थ को अपनी रचनाओं के माध्यम से कलात्मक अन्विति प्रदान करने वाले उपन्यासों को तो आधार बनाया ही गया है पर विवेचन विश्लेषण के केन्द्र में मुख्यत: राजेन्द्र यादव की ही औपन्यासिक कृतियाँ है । मुझे यह कहते हुए हिचक नहीं कि हमारे समाज की बदलती स्थितियों एवं उससे उत्पन्न विडम्बनाओं ने ही मुझे जाने-अनजाने सामाजिक पक्ष को अपने शोध का विषय बनाने के लिए बाध्य किया है । इतना ही नहीं

मै ने अपने कुछ वर्षों के हिन्दी उपन्यासों के अध्ययन के दौरान पाया है कि राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में हमारा समाज जिस विविधता एवं सजीवता के साथ सामने आया है, उतना अन्यत्र जरा कम ही देखने को मिलता है । इसका एक प्रमुख कारण यह हो सकता है कि आज चतुर्दिक वर्ग विभक्त समाज एवं उससे उत्पन्न समस्याएँ ही सामने आती है । जिसमें उपन्यासकार वर्ग किसी एक वर्ग की ओर ध्यान अधिक देकर रचना के स्तर पर एक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न करता है । पर राजेन्द्र यादव के उपन्यासों से गुजरते हुए पता चलता है कि उन्होंने यथा सम्भव हमारे समाज के तीनों वर्गों (उँच, मध्य एवं निम्न) के बीच सन्तुलन रखने का प्रयत्न किया है । इस संदर्भ में एक बड़ी महत्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी में मार्क्सवादी कहे जाने वाले लेखकों के भीतर वर्ग एवं वर्ण को लेकर प्राय: एक द्वैत की स्थिति दिखाई पड़ती है । विचित्र बात है कि हिन्दी में उपन्यास सम्राट कहे जाने वाले मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों एवं कहानियों में ऐसी कोई फाँक नहीं जहाँ तक इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव के लेखन का सवाल है, शिद्दत के साथ यह महसूस किया जा सकता है कि कहानीकार एवं उपन्यासकार के रूप में भले ही उन्होंने भारतीय समाज में अवस्थित गलित वर्ण व्यवस्था पर गहराई से न विचारों हो पर एक साहित्य चिंतक एवं सामाजिक-राजनीतिक विचारक के हैसियत से उन्होंने हाल के वर्षों में अपनी पत्रिका " हंस " को सम्पादकीय में इस मुद्दे पर काफी लिख पढ़ कर यह कमी पूरी कर ली है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय साहित्य का समाजशास्त्र और उपन्यास " है । साहित्य को हमेशा से किसी भी समाज का दर्पण कहा जाता है । आधुनिक युग में उपरोक्त कहावत पहले के मुकाबले और अधिक सफलता के साथ प्रयुक्त होती है । इस शताब्दी से पहले साहित्य तिलस्मो और ऐय्यारो की भूल-भुलैयों में फँसा हुआ था । जिस कारण साहित्य एक वर्ग तक बँधकर रह गया । आज साहित्य जब सम्पूर्ण समाज को अपने घेरे में ले रहा है । ऐसी परि - स्थिति में साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रय होने लगा । इस सम्बन्ध के एक-एक कोने को झाँकने की शक्ति उपन्यास विधा में ही है । इस प्रकार मैंने साहित्य समाज, साहित्यकार इत्यादि को अलग से जहाँ विश्लेषित किया है वहीं मैंने इन तीनों के अन्तर्सम्बन्ध को दिखाते हुए उपन्यास की शुरू से लेकर आज तक की स्थिति को भारत एवं पश्चिम दोनों के ही परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयत्न किया है । साथ ही आज उपन्यास की जो महत्वपूर्ण स्थिति है उसे भी प्रामाणित किया है । जिस कारण " उपन्यास का समाजशास्त्र " अध्ययन के क्षेत्र का एक अलग विषय ही बन गया है । हालाँकि अध्ययन का यह क्षेत्र भारत में हाल ही में शुरू हुआ है । पर इसकी जड़ तो पश्चिम में ही है । मैडम डिस्टेल ने इस क्षेत्र को विकसित करने में पर्याप्त प्रयत्न किया था ।

द्वितीय अध्याय " भारत में पूँजीवादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एवं राजेन्द्र यादव के उपन्यास " शीर्षक के अन्तर्गत लिखित है । जहाँ पूँजीवाद के अभ्युदय के साथ सामन्तीमूल्य किस प्रकार

विघटित हुए ? पूँजीवाद के अभ्युदय में अंग्रेजों का योगदान, उनका भारतीयों को अपने सुविधानुसार उपयोग में लाना, भारत की उपजाऊ भूमि को अपने व्यापार के अनुकूल बनाने की स्थिति तथा अंग्रेजों द्वारा अपने कार्य संचालन हेतु " बाबू वर्ग " की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । कहना न होगा कि पूँजीवाद के अभ्युदय के नतीजे के तौर पर मध्य वर्ग सामने आया । मार्क्स द्वारा कथित दोनों वर्ग-उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग अथवा मजदूर वर्ग तो समाज में सक्रिय है ही पर आज समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान मध्यवर्ग ने भी प्राप्त कर लिया है । जो एक विशेष मन:स्थिति के साथ जन्म लेकर सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में एक-दूसरे ढंग का बदलाव लाने के लिए जिम्मेदार है । जाहिर है कि पूँजीवादी जीवनमूल्यों ही मध्यवर्गीय जीवन मूल्य है जिसमें सम्बन्धों में दरार ही अधिक दिखते हैं । जिसे राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है ।

" राजेन्द्र यादव के उपन्यास एवं मध्यवर्ग " इस प्रबन्ध का तृतीय अध्याय है । वैसे राजेन्द्र यादव स्वयं मध्यवर्गीय है, जिस कारण उन्होंने मध्यवर्ग की मन:स्थिति का प्रामाणिक वर्णन भी किया है । किन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने अपने उपन्यासों में उच्चवर्ग एवं निम्नवर्ग का भी स्वाभाविक वर्णन कर अपने वर्ग का अतिक्रमण करते हुए अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है । स्वातन्त्र्योत्तर भारत में समस्त परिस्थितियाँ आमूल-चूल परिवर्तित हो चुकी है ।

इस परिवर्तित परिदृश्य के कारण समाज में विडम्बनापूर्ण स्थितियाँ ही अधिक दिखाई पड़ती हैं । इन परिस्थितियों में भारतीय किस प्रकार कालान्तर में " फिट " या " मिसफिट " होते रहे है, उसका राजेन्द्र यादव अपने उपन्यासों में बड़ा सजीव चित्रण करते है । इन परिस्थितियों में सर्वाधिक डवाडोल स्थिति स्त्री-पुरूष सम्बन्धों की रही है । जिसका विषद वर्णन राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में विद्यमान है । इसका कारण यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर काल स्त्री-शिक्षा एवं आर्थिक स्वतन्त्रता का काल है । ऐसी परिस्थिति में स्त्री-पुरूष के बीच पूर्व निर्धारित, कुछ आदर्श सम्बन्ध ही नहीं, इनसे परे विवाहेत्तर कुछ सम्बन्ध भी सामने आए है । इसी के साथ तलाक एवं परिवार में टूटन की समस्या भी सामने आती है । इन विषम परिस्थितियों से कोई सचेत रचनाकार कैसे मुँह मोड़कर रह सकता है ?

चतुर्थ अध्याय में राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के शिल्प वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है । जिसके अन्तर्गत सर्व प्रथम उपन्यास की रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में सैद्धान्तिक चर्चा करने के उपरान्त राजेन्द्र यादव के उपन्यासों की रचना प्रक्रिया पर सूत्र रूप में विचार किया गया है । इन सवालों से गुजरते हुए रचना प्रक्रिया के संदर्भ में पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण को भी दृष्टिपथ में रखा गया है । चूँकि शिल्प के अन्तर्गत भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों ही आते है । इसलिए रचनाकार जिन मन:स्थितियों के तहत उपन्यासों की रचना करता है । उसे भी जान लेना आवश्यक हो जाता है ।

कहने की जरूरत नहीं है कि इन मन:स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए वह विभिन्न प्रकार की शैलियों एवं भाषा-प्रयोग आदि करता है। बदली हुई परिस्थितियों में जन्मी समस्याओं के वर्णन में यदि भाषा शैली भी बदल जाए तो यह आश्चर्य का विषय नहीं है। ऐसे रचना - कार की मन:स्थिति को परिवर्तित करने में कुछ लोगों के भी हाथ होता है। इसी के साथ पात्र का अस्तित्व सामने आता है। बिना पात्र के कोई भी रचना निर्जीव होती है। राजेन्द्र यादव में उपरोक्त समस्त स्थिति का वर्णन अत्यन्त सहज एवं सामान्य भाषा में करने का प्रयत्न किया है।

अन्तत: शोध प्रबन्ध का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय समाज की मौजूदा हालत उसमें भारतीयता, यथार्थ और आधुनिकता की स्वीकृति - अस्वीकृति की जहाँ एक तरफ चर्चा की गयी है, वहीं इसमें सम्पूर्ण शोध कार्य का निचोड़ प्रस्तुत करने का भी विनम्र प्रयास किया गया है।

राजेन्द्र यादव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने का अर्थ है हमारे समाज से सम्बन्धित अनगिनत समस्याओं एवं संघर्षों को विश्लेषित कर भाषा में अभिव्यक्त करना। यदि मेरे गुरुवर एवं निर्देशक डॉ॰ रविरंजन की प्रेरणा और प्रोत्साहन न होता तो मेरे लिए यह शोध कार्य करना कठिन होता। उनसे मुझे जो स्नेह-सहयोग एवं आत्मीयता मिली है उसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ।

अपनी विभागाध्यक्ष डॉ॰ शशि मुदिराज के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने शुरू से अन्त तक अपना पूरा सहयोग दिया ।

हमारे विभाग के अन्य गुरुजन तथा भगवानदास जोपट, अरुण कुमार एवं प्रभु के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ । जिन्होंने समय-समय पर मुझे सहयोग प्रदान किया ।

हैदराबाद विश्वविद्यालय के इन्दिरा गांधी स्मारक पुस्तकालय, उस्मानिया विश्वविद्यालय पुस्तकालय, सिटी सेन्ट्रल पुस्तकालय (हैदराबाद), स्टेट सेन्ट्रल पुस्तकालय (हैदराबाद) एस॰एन॰डी॰टी॰ विश्व-विद्यालय बम्बई, पुस्तकालय, नेशनल लाइब्रेरी (कलकत्ता) के प्रत्येक सदस्यों के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध को यहाँ तक पहुँचाने में मेरी मदद की । ~~इसी प्रबन्ध में आगे नेशनल लाइब्रेरी द्वारा दिया गया प्रमाण पत्र भी है ।~~

मैं अपने हृदय से राजेन्द्र यादव की आभारी हूँ, जिन्होंने अपना कीमती वक्त मुझे दिया, जिस कारण मैं उनसे एक " इन्टरव्यू " ले पाई, जो एक " आडियो कैसेट " के रूप में उपलब्ध है । जिसका कुछ अंश इस शोध प्रबन्ध में परिशिष्ट (ख) के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है ।

मैं अपने पति एवं उन सभी शुभाकांक्षी जनों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी मंगल कामनाओं का प्रतिफल यह शोध प्रबन्ध है ।

K. G. Lakshmi

के॰जी॰ लक्ष्मी

प्रथम अध्याय

साहित्य का समाजशास्त्र और उपन्यास

साहित्य का समाजशास्त्र और उपन्यास

जयशंकर प्रसाद ने " इन्दु " के प्रथम अंक में लिखा था कि " साहित्य का कोई लक्ष्य नहीं होता और उसके लिए किसी विधि का निबन्धन नहीं है, क्यों कि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है यह व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का उद्घोष है ।"[1] पर आज इस मंतव्य को स्वीकार करना न केवल अनुचित है बल्कि अवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक भी । मनुष्य का जीवन कोई स्थिर एवं पूर्वव्यवस्थित फार्मूले पर नहीं चलता । मनुष्य के जीवन में कालान्तर से आवश्यकताएँ पड़ती है । जिस कारण उनके जीवन यापन के साधनों एवं तद्नुकूल जीवनानुभवों में समय-समय पर परिवर्तन आना स्वाभाविक है । मनुष्य के जीवनानुभवों में परिवर्तन के साथ साहित्य के क्षेत्र में भी तद्नुकूल परिवर्तन आ जाते हैं । जिसके फलस्वरूप साहित्य रूपी वृक्ष पर नए-नए विधाओं रूपी तनों का उभरना अवश्यम्भावी

---

1. इन्दु के प्रथम अंक में " प्रसाद " ने लिखा

है । वस्तुत: साहित्य के सामाजिक स्त्रोत उतने ही ठोस और वास्तविक है, जितने कि मनुष्य के किसी भी जीवनानुभव के हुआ करते है । परन्तु सर्वदा साहित्य सम्पूर्णत: समाज को प्रतिबिम्बित करें, यह जरूरी नहीं है । वीरगाथाकाल एवं रीतिकाल के साहित्य इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । इन दोनों ही कालों में राजाओं के शौर्य, शान और शौक का जहाँ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है, वही प्रजा के सुख-दु:ख का वर्णन नगण्य है । इसका कारण यह है कि इन युगों में शब्दकर्म बृहत्तर मानव समुदाय के जीवनानुभवों से प्रेरित-प्रभावित होने के बजाय दरबारों की चारदीवारी में सिमट कर रह गया था ।

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के महत्वपूर्ण घटनाओं में एक घटना यह घटी कि साहित्य में सामान्य जनता भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगी । साहित्यकार साहित्य की रचना बिल्कुल तटस्थ होकर करता था । अपनी रोजी-रोटी को ही दृष्टि में रखकर नहीं, बल्कि साहित्य के ऐसे पक्षों की ओर ध्यान देने लगा जो कि मानवीय सम्बन्धों और समाज की संरचना के विश्लेषण से भी सम्बन्धित थे । साहित्य के इन्हीं सामाजिक स्त्रोतों और संदर्भों की छानबीन के क्रम में साहित्य के समाजशास्त्र का जन्म हुआ ।

विवेचन-विश्लेषण के स्तर पर सामाजिक संरचना एवं सामाजिक प्रक्रिया को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय मनुष्य को ही है जो कि एक सामाजिक प्राणी तो है ही साथ ही वह समाज की प्रमुख इकाई भी है । वह आरम्भ से ही सामूहिक जीवन व्यतीत करने का आदी हैं । सामूहिक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति ने ही मनुष्य के चिन्तन को विकसित किया । जिसके फलस्वरूप वह अपनी सामाजिक स्थितियों को सुधारने एवं समस्याओं का उचित समाधान प्राप्त कर अपने जीवन को पूर्वव्यवस्थित करने लगा । अपने जीवन की स्थितियों को सुधारकर अग्रगामी होने की प्रवृति मानव में नई नहीं है हॉलाकि शुरू से ही यह प्रवृति

मनुष्य में विद्यमान है । पर यह एक अलग बात है कि आज विज्ञान के उत्तरोत्तर बढ़ती शक्ति के कारण मनुष्य की चिन्तनधारा भी वैज्ञानिक हो चली है । पर वही चिन्तन पहले जरा अवैज्ञानिक एवं सीधी सादी रही होगी, पर निःसन्देह अपनी सुख-सुविधाओं के साधनों में बढ़ोत्तरी की प्रवृति निश्चित रूप से दूर काल में रही होगी । आज वैज्ञानिक चिन्तनधारा के विकास के कारण ही समाज की प्रत्येक प्रक्रिया वैज्ञानिक विवेचन व विश्लेषण का विषय हो सकी है । इसी कारण विद्वानों ने सामाजिक संरचना और उसकी प्रक्रियाओं का विश्लेषण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करना उचित समझा ।

समाजशास्त्र का जनक ऑगस्त कोम्ते (1798-1857) को माना जाता है, जिन्होंने समाजशास्त्र से सम्बन्धित कुछ नियम बनाकर छोड़ नहीं दिए थे बल्कि उसे एक व्यवस्थित दिशा प्रदान करने का प्रयत्न भी किया था । वे एक विकासशील एवं प्रगतिशील समाज की कल्पना करते थे । फल स्वरूप उनके समाजशास्त्र से सम्बन्धित दो दृष्टियाँ समाने आती हैं ।

(अ) सामाजिक स्थितिशास्त्र (Social Statics)
(आ) सामाजिक गतिशास्त्र (Social Dynamics)

सामाजिक स्थितिशास्त्र में वे सामाजिक संगठन की बात करते हैं । तो सामाजिक गतिशास्त्र में सामाजिक प्रगति की । दोनों ही नियमों के अनुसार कोम्ते विज्ञान के आधार पर समाज में विकास एवं प्रगति चाहते हैं । इस प्रकार कोम्ते समाजशास्त्र को सामाजिक नियोजन एवं सामाजिक पुनर्निर्माण के विज्ञान के रूप में देखते हैं । कोम्ते इस महान कार्य के सम्पादन हेतु वैज्ञानिक, कलाकार, कवि, चिकित्सक, गायक नर्तक आदि विविध वर्गों की सेवाओं पर अधिक निर्भर थे ।

इन्हीं के दृष्टिकोण से प्रभावित होकर कुछ अन्य विद्वानों ने भी समाजशास्त्र की ओर अपना ध्यान बढ़ाया । जैसे कि सोरोकिन की मान्यता थी कि " समाजशास्त्र सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं, उनके आपसी सम्बन्ध एवं सहसम्बन्धों का विज्ञान है । "[1] तो परेटो के अनुसार सामाजिक व्यवस्था सामाजिक सन्तुलन के अन्तर्गत ही स्थायित्व प्राप्त कर क्रियाशील रहती है और दुर्खीम की मान्यता है कि " जब भी कोई आकस्मिक परिवर्तन होता है तो समाज की नियामक नियमों की आदर्श रूप संरचना शिथिल पड़ जाती है, ऐसी स्थिति में व्यक्ति को उचित या अनुचित का बोध नहीं रहता ······· और वह प्रभावविहीनता को ग्रहण करता है । "[2]

भारत में साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन ज्यादा पुराना नहीं है । सच तो यह है कि भक्ति आंदोलन के बाद एक लम्बी अवधि तक हमारा साहित्य सृजन एक खास तबके तक सिमटा हुआ था । 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्यकार पुन: सामान्य जनता पर अधिक ध्यान देने लगे । फलस्वरूप समाज से सम्बन्धित समस्याएँ एवं अन्य स्थितियाँ रचना के स्तर पर अधिक उभर कर आने लगीं एवं हमारे समाज की संरचना तथा साहित्य सर्जन प्रक्रिया को एक दूसरे से जोड़कर समझने एवं विश्लेषित करने की दिशा में सबसे पहला कदम नि:सन्देह साहित्य के समाजशास्त्रियों ने ही उठाया है । समाज अनेकानेक उतार-चढ़ावों से पूर्ण परिवर्तन की प्रक्रिया से होकर गुजरता है । अत: साहित्य का भी इस प्रक्रिया से जुड़ाव स्वाभाविक ही है,

---

1. सामाजिक पुनर्निर्माण का समाजशास्त्र और साहित्य, विश्वम्भर दयाल गुप्त - पृ. 4.

2. - वही - पृ. 5.

जैसा कि लुकाच ने लिखा भी है कि " साहित्य का अभ्युदय एवं विकास भी सम्पूर्ण ऐतिहासिक एवं सामाजिक प्रक्रिया का ही एक अनिवार्य अंग है । "[1] कभी-कभी इस प्रक्रिया के दौरान असन्तुलन एवं असमंजस्य उत्पन्न करने वाली सामग्री भी दिखाई पड़ती है । समाजशास्त्री इसके प्रति भी अत्यन्त सजग रहता है । आज साहित्य की प्रेरक शक्ति के रूप में समाज इस हद तक अपनी भूमिका अदा कर रही है कि साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन हमारे युग के अध्येताओं के लिए कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण अधिगम बन गया है । समाज को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करने की परिपाटी बहुत प्राचीन है, परन्तु उसकी सीमा निर्धारित थी सिर्फ कविता, नाटक एवं अन्य हस्तकलाओं तक । साहित्य के समाजशास्त्र के रूप में विकास पाने में इसे तकरीबन तीन सदियों का वक्त लगा । अन्त में आधुनिक युग में आकर ही इसे एक स्वयंसिद्ध एवं स्वतन्त्र साहित्य विश्लेषण पद्धति का रूप प्राप्त हुआ । आधुनिक युग में ही यह पद्धति इसलिए विकसित हो सकी क्योंकि इसी युग में पूंजीवादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सामने आई । यही वह जड़भूत कारण है जिससे जुड़ी हुई अनगिनत शाखाएँ हमारे समाज में घर कर गईं एवं सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति में मानों उथल-पुथल मचा गई । इन शाखाओं में मुख्य है औद्योगीकरण, जिसने वर्ग विभक्त समाज को जन्म तो दिया ही साथ ही ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विशेषज्ञता एवं विशेषीकरण की प्रवृत्ति को भी जन्म दिया । इससे मानवीय सम्बन्धों में व्यावसायिकता आने लगी । अब तक जो समाज " प्रतीति " एवं " प्रमाण " की धुरी पर चल रहा था अब उसका आधार " उपयोगिता " ने ग्रहण कर लिया ।

इन सामाजिक स्थितियों को गहराई में पैठकर उसके गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करने एवं उसे आत्मसात् कर साहित्य के समाजशास्त्र को एक व्यवस्थित रूप देने का श्रेय 19 वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध के फ्रेंच विद्वान हो पोलाइत तेन का है। तेन के पश्चात् अन्य अनेक विद्वानों ने भी इस क्षेत्र को सुसमृद्ध बनाने में अपना अपूर्व योगदान दिया है। जिसमें मैडम डिस्टेल का नाम अग्रगण्य है। मैडम डिस्टेल को साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित पुस्तिका " डिला-लिटरेचर " में उनकी दृष्टि स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनके अध्ययन का उद्देश्य था -- " धर्म, रीति-रिवाजों और कानून के साहित्य पर पड़ने वाले प्रभावों और साहित्य के इन पर पड़नेवाले प्रभावों का अध्ययन करना "[1] अप्रत्यक्ष रूप से मैडम ने आबोहवा, भौगोलिक स्थितियों और उससे उत्पन्न मानव - मनोविज्ञान के साथ साहित्य रचना के सम्बन्ध को जोड़कर देखने का दावा करते हुए कहा है ---

"Meloncholy, that fertile sentiments in words of genius, seems to belong almost exclusively to northern climate."

तेन, स्तेल आदि तमाम चिंतकों ने साहित्य के समाजशास्त्र पर विचारते हुए मुख्यतः उपन्यास को ही केन्द्र में रखा है।[2] उपन्यास के विकास में नारी के विविध रूपों (मध्यवर्ग, व्यक्तिवाद और पाठकवर्ग) में योगदान से सम्बन्धित जितनी भी अवधारणाएँ कालान्तर से विकसित हुई उन सब में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मैडम डिस्टेल की विचारधारा का प्रभाव देखा जा सकता है।

---

1. डिला लिटरेचर : मैडम डिस्टेल : पृ० : 34

2. डिला लिटरेचर मैडम डिस्टेल - पृ. 50.

विधेयवादी विचारकों से अलग हटकर साहित्य के समाजशास्त्र को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से विचार करते हुए एक नवीन रूप प्रदान करने का श्रेय लुकाच एवं गोल्डमान जैसे मार्क्सवादी चिंतकों को दिया जाता है। ऐसे इनके अतिरिक्त भी अनेकानेक नाम इस विकास के साथ जुड जाते हैं। जिन सबका विवरण न तो यहाँ सम्भव है और न ही अपेक्षित। कुलमिलाकर साहित्य के समाजशास्त्र को विधेयवादी दृष्टि से देखें या मार्क्सवादी दृष्टि से, पर उनका अब से ज्यादा सम्बन्ध कथा-साहित्य के समाजशास्त्र के रूप में ही हुआ। इस कारण उपन्यास एवं उपन्यास के समाजशास्त्र पर एक नज़र डालना उचित होगा। उपन्यास बुर्जुआ साहित्य की न केवल सबसे प्रतिनिधि उपज है, बल्कि उसकी श्रेष्ठतम रचना मानी गई है। मानव इतिहास में अनेकानेक नई कलाएँ जन्म लेती हैं, कालान्तर में उसकी रफ्तार बेशक घट जाती है, पर वह जड़ सहित गायब नहीं होती अर्थात् वह किसी न किसी रूप में अपने वास्तविक रूप में जुड़ी रहती है। इसका प्रमुख कारण है मानव की संवेदन शीलता। मनुष्य जैसे ही किसी ऐसी वस्तु के सम्पर्क में आता है जिसका उसके यथार्थ जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो वह उससे सदा चिपका रहता है। इसका प्रथम उदाहरण सिनेमा और दूसरा उदाहरण " उपन्यास " है जो कि सार्वभौमिक मान्यता और सराहना प्राप्त एक ऐसी विशिष्ट कला है जो हमारी अपनी सभ्यता और सबसे बढ़कर छापेखाने की देन है। इस कला को महान एवं श्रेष्ठ बनाने का श्रम कुछ पाश्चात्य एवं कुछ भारतीय विद्वानों को है। इस मोड़ पर उनके उपन्यास के प्रति विचार एवं उद्देश्य को देखना और समझना अति आवश्यक हो जाता है।

उपन्यास केवल मात्र कथात्मक गद्य नहीं है, वह मानव के जीवन का गद्य है -- ऐसी पहली कला है, जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती है।

" उपन्यास को अन्य कथाओं से अलग करने वाली महान विशेषता यह है कि उसमें गुप्त जीवन को प्रत्यक्ष करने की शक्ति है । इस प्रकार यह कला कविता या नाटक या सिनेमा-या चित्रकला या संगीत से यथार्थ का एक भिन्न दृश्य प्रस्तुत करती हैं । " [1] " संवेदनशीलता से विहीन कला वह कला जिसका वस्तु जगत के बोध से इन्द्रियगोचर वस्तुओं से, कोई लगाव नहीं होता है, कोई कला नहीं है, यहाँ तक कि वह कला की छाया भी नहीं है । सृजनात्मक प्रक्रिया का तत्व सृजनकर्त्ता और बाह्य यथार्थ के बीच संघर्ष में इस यथार्थ को काबू में करने तथा उसके पुनःरचना करने की आवश्यकता में, निहित है । "[2]

भारतीय विद्वानों में भी अगर समकालीन श्रेष्ठ कुछ उपन्यासकारों के विचारों को देखें तो पता चलता है कि उन सबों के पास उपन्यास से सम्बन्धी ऐसे कोई महत्वपूर्ण विचार निश्चित रूप से थे जिसने उन्हें उपन्यास को मान्यता प्रदान करने को बाध्य किया । जैसे राजेन्द्र यादव ने " अनुभव और अनुभूतियों को तटस्थ दृष्टि से स्थितियों और अन्य पात्रों में फैलाकर सामाजिक संदर्भ और अर्थ तलाश करने का सबसे उपयुक्त माध्यम उपन्यास को माना है तो श्री लाल शुक्ल उपन्यास को जीवन की जटिलता, गहनता को मुख्यतः अनुभूति कि स्तर पर अन्वेषित और उद्घाटित करने वाला माध्यम मानते हैं । इस परिप्रेक्ष्य में यशपाल का मंतव्य है कि -- " उपन्यास शब्द संस्कृत से तद्भव है, जिसका मूल या शब्दार्थ कथानक है । लक्षणा समन्वित, सप्रयोजन, तुलनात्मक वर्णन है । "

1· एडमण्ड मॉर्गन फार्स्टर, अंग्रेज आलोचक तथा लेखक – उपन्यास और लोक जीवन -- लेखक रैलफ फॉक्स - पृ· 10·

2· मिल्टन - उपन्यास और लोक जीवन – रैलफ फाक्स - पृ· 19·

उपन्यास का समाजशास्त्र साहित्य के समाजशास्त्र का ही एक विकसित रूप है -- इसका अप्रत्यक्ष रूप से यह अर्थ हुआ कि दोनों के अभ्युदय की परिस्थितियाँ एक ही थीं । इन दोनों का ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध पूँजी - वादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एवं उससे उत्पन्न औद्योगिकरण वर्ग-विभक्त समाज, श्रम-विभाजन व उसके विशेषीकरण से था । उपन्यास के उद्भव को लेकर जितनी चर्चाएँ हुई है । उनमें दो बातें मुख्य रूप से सामने आती है --

(क) उपन्यास मध्यवर्ग के संरक्षण में पलता-बढ़ता है ।

(ख) उपन्यास महाकाव्य का स्थानापन्न है ।

(क) उपन्यास औद्योगिकृत वर्ग विभक्त समाज की देन है, इसीलिए इसका सीधा सम्बन्ध मध्यवर्ग से जुड़ जाता है । इस रहस्य का उद्घाटन सर्व प्रथम " मैड्म डिस्टेल " ने किया । इसके बाद हीगल ने इसे दि एपिक आफ दि मिडिल क्लास वर्ल्ड " तथा लुकाच ने " बूर्ज्वा एपिक " कहकर समर्थन किया । इन सबके समर्थन के पीछे एक प्रमुख कारण यह है कि यही एकमात्र वह गद्य विधा है जो वर्ग-विभक्त समाज के सही नब्ज़ को पकड़कर उसकी भावनाओं को सही एवं यथार्थ रूप में सम्पूर्णता के साथ वर्णन करता है । यही वह विधा है जो आधुनिक युग को प्रमुख वृत्ति यथार्थवाद को सभी रूप में पुष्ट करती है । उपन्यास के इसी गुण के कारण यथार्थवादी आलोचक एवं साहित्यिक समाज - शास्त्र इसके समाजशास्त्रीय विवेचन के प्रति इतने उत्सुक दिख पड़ते है ।

§ख§ सामन्ती सभ्यता वाले समाज में जो रचनात्मकता की वह महाकाव्य के रूप में प्रकट होती थी । जार्ज लुकाच ने महाकाव्य के विषय में कहा है कि " महाकाव्य जगत या तो शुद्ध रूप से बालक की भाँति सरल होता है जिसमें स्थिर और पारस्परिक मूल्यों के अतिक्रमण से ऐसा प्रतिशोध जुड़ा होता है, जिसका पुन: अनन्तकाल तक प्रतिकार होते रहना चाहिए, अथवा यह ऐसा परिपूर्ण ईश्वर न्यायवाद होता है, जिसमें अपराध और दण्ड विश्व न्याय की तुलाओं में समान एवं परस्पर संभागी भारों के रूप में अवस्थित होते है ।"[1] अर्थात् महाकाव्य का विषय अत्यन्त सहज होता है एवं उसकी अभिव्यक्ति भी अत्यन्त सरल ढंग से होती है । पर उपन्यास में छोटे बालक के हृदय की सरलता के ही नहीं बल्कि जीवन की एक अव्यवस्था से असमय में उत्पन्न एक परिपक्वता भी पाई जाती है । अर्थात् उपन्यास जगत जीवन की गहनता, जटिलता का पर्दाफाश कर छिपी हुई जीवन समग्रता को निर्मित करना चाहता है । उपन्यास घटना एवं विवरणों के सामान्य रूप से संतुष्ट नहीं हो जाता बल्कि वह उन घटनाओं और विवरणों की गहराई में पैठकर परिपक्वता से पूर्ण एक जीवन को उसके समग्रता में प्रस्तुत करने जैसा जटिल कार्य करता है । " महा - काव्य और उपन्यास उत्कृष्ट महाकाव्यात्मक साहित्य के दो प्रमुख रूप है । ये एक दूसरे से न केवल इस कारण भिन्न है कि इनके लेखकों के मूल कार्यक्रम भिन्न होते है, कि बल्कि इसलिए कि जिन ऐतिहासिक दार्शनिक वास्तविकताओं से लेखकों का सामना होता है, वे भिन्न होती है ।"[2]

1• उपन्यास का सिद्धान्त - जार्ज लुकाच - पृ• 75 - 76•

2• उपन्यास और लोक जीवन - रैल्फ - फॉक्स - पृ• 71•

उपन्यास का कथानक नदी की धारा के समान होता है जिसमें कहीं गाँव आते हैं तो कहीं शहर, कहीं कटीले वन तो कहीं सुरम्य घाटी । ऐसी व्यापकता गद्य की किसी भी विधा में नहीं है । जिससे वह उसे आत्मसात् कर सके । पद्य ﴾ कविता ﴿ में महाकाव्य ने अभिव्यक्त किया तो गद्य में उपन्यास ने ।

जाहिर है कि " भौतिक उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन होने से बौद्धिक उत्पादन का चरित्र भी बदल जाता है ।" [1] यदि इस दृष्टि से विचारे तो महाकाव्य की रचना मुख्य रूप से उन दिनों हुई जब राजा प्रजा वाला सम्बन्ध था । राजा सुख सुविधाओं से पूर्ण जीवन व्यतीत करने में संलग्न था वहीं प्रजा के जीवन यापन की सुख सुविधाएँ भी निर्धारित थीं, जिसे वह अपनी नियति समझकर उसी में सुखी रहने का प्रयत्न करता था । पर आज शिक्षा विज्ञान एवं औद्योगीकरण के विकास के साथ आर्थिक स्तर पर आदान-प्रदान का मसला जरा भिन्न है । आज राजा-प्रजा का सम्बन्ध गौण हो गया है । आज वर्ग विभक्त समाज में हर कोई अपने आर्थिक स्थिति के अनुकूल हर चीज का समान हकदार है । ऐसी लोकतान्त्रिक(Democratic) समाज से जो विषय साहित्य के लिए चुने जाते हैं उनका भिन्न होना भी स्वाभाविक है । आज लोकतान्त्रिक जीवन तो है पर उसमें जटिलताएँ भी कम नहीं है । इन जटिलताओं की गहराई में जाकर गूढ़ रहस्यों को उद् - घाटित करना ही साहित्य का लक्ष्य है । इसी जटिल कला में उपन्यास ही मानो प्रबुद्ध है । उपन्यास के इसी व्यापकता, मध्यवर्ग का वर्णन, जीवन के गूढ़ से गूढ़ रहस्यात्मकता को अभिव्यक्त करने की सक्षमता के कारण ही वह समाजशास्त्रियों के आकर्षण का केन्द्र बना है ।

---

1. मार्क्स ऐंगिल्स कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र - पृ. 60.
प्रकाशक - प्रगति प्रकाशन ﴾ हिन्दी अनुवाद ﴿

§क§ शब्दकर्म और समाज :-

शब्दकर्म का अर्थ है सार्थक एवं सोद्देश्य विचारों का प्रस्तुतीकरण । साहित्य में सार्थक वाक्यों का सिर्फ अर्थपूर्ण होना काफी नहीं है बल्कि उनका यथार्थ जीवन से निकटतम सम्बन्ध ही उसे एक सार्थक कृति का रूप प्रदान करता है । जीवन से निकट सम्बन्ध ही परोक्ष रूप से ये सिद्ध करता है कि कोई भी कृति जीवन सापेक्ष होनी चाहिए । इसी लिए साहित्यिक कृतियों को जीवन की पुर्नरचना कहा गया है । इसका कारण यह है कि जन्म के बाद मनुष्य सिर्फ जीने के लिए ही जीवित नहीं रहता बल्कि वह उसे भरपूर एवं सम्पूर्णता में जीना चाहता है । इसी कारण वह स्वयं के साथ-साथ औरों को भी जीवित रखने का इच्छुक रहता है । मनुष्य की इसी जिजीविषा ने उसे विभिन्न सामाजिक संस्थाओं जैसे - परिवार, धर्म, कला, साहित्य इत्यादि को जन्म देने के लिए प्रोत्साहित किया । ये संस्थाएँ सिर्फ सामाजिक ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक एवं संगठनात्मक उपलब्धियाँ भी है ।

ऊपर यह कहा गया है कि साहित्य जीवन की पुर्नरचना है । लेकिन वह जीवन की यथार्थ स्थितियों का सर्वथा वर्णन करती है । पर कृतिकार इतना सा काम कर समस्त मानव जाति को अन्धकार में छोड़, अपने कर्तव्य की इति नहीं समझता बल्कि नव-निर्माण का रास्ता भी दर्शाता है, जैसे प्रेमचन्द ने साहित्य को जीवन के आगे चलने वाली मशाल के रूप में उद्घोषित भी किया है ।

कृति का जीवन से इतना निकटतम सम्बन्ध है कि रचना की भाषा-शैली में भी जीवन झलकता पड़ता है । कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न सामाजिक स्थितियों के अनुरूप मनुष्य की मानसिकता मनोविज्ञान का ही साहित्य पर प्रभाव नहीं पड़ता, साथ ही साथ उसके विविध उपकरण भी रचना को भरपूर प्रभावित करते हैं । इससे स्पष्ट है कि रचना के कोने-कोने से मानव-जाति की सोच-विचार की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है ।

कोई भी रचना अर्थपूर्ण होती है । अर्थवत्ता के साथ ही उद्देश्य का सवाल जुड़ जाता है । यह सवाल आधुनिक युग की देन नहीं है । पर उद्देश्य के विषय में पहले ही संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने अपना विचार अभिव्यक्त किया है । भामह ने काव्य के तीन उद्देश्य मनोशास्त्र विज्ञान, आनन्द और कीर्ति माने तो कुन्तक ने माना कि रचना काव्य हृदय को प्रभावित करे । कर्तव्या-कर्तव्य का सरल विश्लेषण किया करता है ।" मम्मट इन सब से अलग हटकर "सकल काव्य प्रयोजन " को और विस्तृत रूप में उपस्थित किया है । पर 19 वीं शताब्दी में उपयोगितावाद (utilitarianism) शब्द का प्रयोग रचना के उद्देश्य के साथ प्रमुख रूप से जुड़ जाता है । इसीलिए पण्डित राम-चन्द्र शुक्ल ने साहित्य का उद्देश्य लोक मंगल और आत्मविस्तार माना है ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । कहने का तात्पर्य यह है कि वह सामूहिक जीवन व्यतीत करने का आदी है । इस सामुदायिक जीवन का निर्माण मनुष्य जाने-अनजाने ही पारस्परिक हित तथा सुरक्षा के उद्देश्य से कर लेता है । इस सामुदायिक व्यवस्था का स्वरूप आरम्भ में तो बड़ा सरल था पर समय के साथ-साथ परिस्थितियाँ बदली, जिस कारण इस व्यवस्था में जटिलताएँ आने लगीं । इस जटिलता का बीजारोपण मार्क्स द्वारा कथित वर्ग-विभक्त समाज में हुआ । वर्ग व्यवस्था और कुछ नहीं बल्कि मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध के

क्रमचय संचय (Permutation and Combination) की प्रक्रिया है । इस वर्ग व्यवस्था में जैसे-जैसे जटिलता आने लगी उसी के साथ राजनीति अर्थव्यवस्था और संस्कृति जैसे शब्द इसमें समाने लगे । वर्ग व्यवस्था के कारण मनुष्य जीवन के प्रति असुरक्षा का अनुभव करता है जिस कारण समस्त व्यवस्था ही मानो डगमगा जाती है । इस असुरक्षित एवं अव्यवस्थित जीवन को एक ठोस आधार पर खड़ा कर एक स्थिरता लाने के लिए राजनीति का जन्म हुआ । जो कि बड़ी बारीकी के साथ देखा जाए तो मानव के रोजमर्रे की जिन्दगी को सुचारू रूप से चलाने का बागडोर अपने हाथ में पकड़ लेती है एवं मानव जीवन को अनुशासित करने का प्रयत्न करती है ।

आज हमारे जीवन में नित्यप्रति आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही है । इसी के अनुरूप औद्योगीकरण का बोलबाला शुरू हुआ । अनेक प्रकार के वैज्ञानिक उपकरणों का निर्माण होने लगा जो मनुष्य के भौतिक सुख में बढ़ोत्तरी करने लगे । अर्थ व्यवस्था का सीधा-सम्बन्ध उत्पादन, वितरण एवं उपयोग से होता है । मार्क्सवादी विचारकों ने अर्थ व्यवस्था को समाज का केन्द्र-बिन्दु माना । मनुष्य औद्योगीकरण के अभ्युदय एवं आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग के साथ-साथ अपने को संस्कृत करने के कार्य में जुट गया । अपने आप को संस्कृत करने का अर्थ था अपने प्राकृत स्वभाव में कुछ परिमार्जन करे । यह परिमार्जन उसके प्राकृत इच्छाओं, आकांक्षाओं, प्रवृत्ति एवं निवृत्तियों के उचित सामंजस्य पर निर्भर करता है । मनुष्य के प्रत्येक क्रिया-कर्मों के पीछे उसका अहम्, उसका स्वार्थ सक्रिय रहता है । पर समाज में जीने के लिए उसे व्यष्टि से उठकर समष्टि के तल पर आकर खड़ा होना पड़ता है । अपने को दूसरे की सापेक्षता में देखना पड़ता है । <u>इस प्रकार हम कह सकते है कि सामाजिक जीवन की आन्तरिक मूल्य एवं प्रवृत्तियों का संश्लिष्ट रूप ही संस्कृति है ।</u>

समाज में बढ़ती जटिलताओं के परिणाम स्वरूप राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, संस्कृति जैसी व्यवस्थाएं सामने आईं। जिसका प्रभाव साहित्य के क्षेत्र पर पड़ना स्वाभाविक था। साहित्यकारों ने समाज को सिर्फ एकांगी रूप में देखना छोड़कर उसे राजनीति, अर्थ-व्यवस्था एवं संस्कृति सापेक्ष देखना शुरू कर दिया।

आज तक हमने साहित्य को सबों के हित की दृष्टि से देखा है। पर अब साहित्य की अवधारणा सरली करण को पाकर एक ज्यादा स्पष्ट रूप धारण कर चुकी है। साहित्य में मुख्य रूप से भावों को आकृति दी जाती है। कल्पना भाव है एवं कृति वस्तु। कल्पना का वस्तुगत प्राकट्य ही कृति है। कृति में अभिव्यक्त जो भाव हैं वे वास्तव में और कुछ नहीं बल्कि कृतिकार के हृदय को आन्दोलित करनेवाले कुछ सामाजिक कारण हैं। ये भाव अभिव्यक्ति पाने को जब बेचैन हो उठते हैं तो वे कृति का रूप धारण करते हैं। कृति के अनेकानेक रूप हैं जैसे धर्म, दर्शन, साहित्य, कला इत्यादि। इनके अतिरिक्त भी अनगिनत रूप नित्यप्रति जन्म लेते रहते हैं। पर निश्चित रूप से कृति के प्रत्येक रूप के साथ एक संगठनकारी शक्ति चलती है। जिसका सम्बन्ध परम्परा से है। ये परम्परा और कुछ नहीं बल्कि कृतिकार के समाज के कुछ कटु-मृदु पुर्वानुभव हुआ करते हैं। तो यहाँ प्रत्यक्ष सवाल उठता है कि साहि-त्यकार का पुर्वानुभव क्या होगा? अर्थात साहित्य का कथ्य क्या होता है? इसका स्पष्ट उत्तर है सामाजिक घटना

आज साहित्य का समाजशास्त्र अपने पुराने रूप को छोड़कर नवीन पथ पर चल पड़ा है। जहाँ उसका साक्षात्कार हो जाता है - मनोविज्ञान एवं मार्क्सवाद से। साहित्य का विषय ही मनुष्य एवं उसके जीवन से जुड़ी कुछ

सुखद-दुखद घटनाए। इन सुखद-दुखद घटनाओं का मनुष्य पर प्रभाव एवं प्रतिक्रियाओं को खोज हो साहित्य की प्रमुख भावभूमि है । वही मार्क्सवादी मानव मनो - विज्ञान को तो कुछ हद तक देखते है पर साथ-साथ उनके दावे का प्रमुख आधार वर्ग-संघर्ष या अर्थ-व्यवस्था से है । इस प्रकार साहित्य और समाजशास्त्र के मिलन बिन्दु का परिणाम ही साहित्य का समाजशास्त्र है । अत: यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि शब्द कर्म, चाहे वह जिस किसी विधा से सम्बद्ध हो, कहीं न कहीं उसकी जड़े समाज में ही होती हैं ।

§ख§ रचनाकार और समाज :-

एक संवेदनशील व्यक्ति ही रचनाकार बन सकता है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि रचनाकार के पास एक पैनी दृष्टि होती है जिससे वह मानव जीवन के एक-एक पहलू को गम्भीरता के साथ उजागर करता है । रचनाकार के पास दृष्टिकोण से अधिक दृष्टि की आवश्यकता है, क्यों कि बिना किसी दृष्टि के दृष्टिकोण नि:सहाय है । इसी लिए रैल्फ फॉक्स ने सही कहा है कि " साहित्य में जीवन के बारे में लेखक की राय दरकार नहीं है, वहाँ जीवन की तस्वीर चाहिए ।" कुछ हिन्दी लेखकों की रचनाओं में जहाँ उनका मत विशेष उभर कर आता है, वहाँ जीवन की तस्वीर उतना उभरकर नहीं आती । .... मॉक्स ने बाह्य जीवन की परिस्थितियों के साथ मनुष्य के आन्तरिक जीवन, उसके भाव-जगत का चित्रण करने पर जोर दिया है । ...... भाव जगत और बाहरी जगत में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। दोनों के समन्वय से ही भरेपूरे यथार्थवाद का विकास हो सकता है ।"[1]

---

1. उपन्यास और लोक जीवन - रैल्फ मॉक्स - पृ. 42

हिन्दी के आधुनिक काल ठीक पूर्व का साहित्य पढ़कर ऐसा महसूस होता है मानो ज्यादातर लेखकों ने जीवन के भोगवादी पक्ष को ही अपनाया हो । कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने परिस्थितियों को गहराई में जाकर किन्हीं गूढ़ रहस्यों को उजागर करने जैसा कष्टदायक काम नहीं करना चाहा । बल्कि पाठकों को विशेषकर पाठकों ने सिर्फ उस वर्ग को दृष्टि में रखकर रचनाएँ को जो वासना प्रवृत्त थे । आश्चर्य की बात है कि ऐसी समाज-विमुख साहि - त्यिक प्रवृत्ति या आन्दोलन (रीतिकाल) इतने लम्बे समय तक हिन्दी में कैसे प्रभुत्व की स्थिति में रहा तथा तत्कालीन समाज ने उसे कैसे पुष्पित-पल्लवित होने दिया ।

आधुनिक युग के आरंभ में भी यह कुहासा-पूरी तरह साफ नहीं हुआ था । कथा-साहित्य के क्षेत्र में ऐसी ही परिस्थिति में मुंशी प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को तिलस्मी, अय्यारी गुफाओं से बाहर निकालकर जीवन के राजपथ पर ला खड़ा किया । जहाँ पहले एक रचनाकार बड़े-सहूलियत के साथ भोगवादिता को प्रश्रय देता था वहीं आज का एक रचनाकार विशेषकर एक उपन्यास लेखक में स्वाभाविक ढंग से जीवन के प्रति जागृति आ गई है । इसका कारण यह है कि आज की परिस्थितियों में वह स्वयं भोगवादी जीवन अधिक देर तक व्यतीत नहीं कर सकता, क्योंकि जीवन के अन्य पक्ष जो आज जटिलताओं से घिरे हुए है, वे अपनी ओर उनका ध्यान बढ़ाकर एक समाधान माँगते है और जीवन का यही पक्ष अन्य पक्षों के मुकाबले अधिक महत्वपूर्ण है । कई बार भोगविलासितापूर्ण जीवन के तहत उत्पन्न अर्न्तविरोधी एवं तनावों को कला के स्तर पर स्थापित करना भी बड़ा कारगर सिद्ध होता है । जिसका कि सम्बन्ध अन्त में अर्थगत आधार से जुड़ जाता है । इस प्रकार लेखक अप्रत्यक्ष रूप से भोगपूर्ण जीवन के माध्यम से समाज के किसी बड़े यथार्थ

को ही चित्रित करना चाहता है । इसीलिए आज रचनाकार का एकमात्र महत्वपूर्ण कार्य यही है कि वह सत्य या वास्तविकता से अवगत हो कर दूसरों को भी वास्तविकता से साक्षात्कार कराए । कहने की जरूरत नहीं है कि हमारे समय की वास्तविकता या यथार्थ दिनानुदिन जटिल होता गया है । इसलिए स्वभावतः रचनाकार की लेखकीय चुनौतियाँ भी बढ़ गयी हैं । सत्ता व्यवस्था का अनुकूलन चक्र मनुष्य की दूसरी सक्रियताओं की तरह ही उसकी रचनात्मक गतिविधियों को भी अपनी गिरफ्त में लेने के लिए भिन्न - भिन्न प्रकार की षडयन्त्रकारी तरीके अपना रहा है, जैसे - पुरस्कार, अनुदान, अभिनन्दन आदि ।

इसी परिपेक्ष्य में मुंशी प्रेमचन्द की मान्यता ध्यातव्य है कि लेखक अगर रोटी के लिए लिखता है तो उसकी रचनात्मकता के अनुकूलित हो जाने का पूरा खतरा बना रहता है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो जो लेखक रोज - गार के रूप में लेखन को अपनाता है तो उसकी लेखन में स्तरहीनता की सम्भावना ज्यादा होती है ।

रचनाकार सिर्फ वास्तविकता का बयानकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझे तो वह गलत है क्यों कि वह युगदृष्टा होने के साथ-साथ युगसृष्टा भी है । उससे समाज का कोई रहस्य छिपा नहीं रहता --

" कवि से रे किसका क्या दुराव "

कोंस्तान्तिन फेदिन ने उनके सृष्टा रूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि '... वह केवल लेखक ही नहीं, बल्कि सृष्टा भी है - एक ऐसा मानव जो अन्य लोगों

के साथ जीवन का ताना-बाना बुनता है, ऐसा आदमी जो एक अपनी निजी कुटोबंद दुनिया का नहीं, अपितु विश्वव्यापी मानव जगत का निर्माण करता है ।"[1]

उसके इसी संवेदनशील स्वभाव के कारण वह संक्रान्ति काल में सत्य का उद्घाटन कर समाज को नई चेतना एवं नई दिशा प्रदान करता है । इसीलिए गुलाबराय ने कहा है कि " समाज कवि और लेखक को बनाता है और लेखक तथा कवि समाज को बनाते है ।"[2]

सुमित्रानन्द पंत रचनाकार के इस सृजनशील विचारक रूप को देख ये कहने को बाध्य होते है कि

" नही जानता कैसे इस संक्रान्ति काल को
नित्य बदलती हुई वास्तविकता के पट में "[3]

समाज के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करने के चक्कर में रचनाकार मनोवैज्ञानिक युक्तियों का प्रयोग करता है । इन रहस्यों को उद्घाटित कर वह मनुष्य को भविष्य के लिए सतर्क तो करता है साथ ही एक नया रास्ता भी दिखाकर युग का प्रतिनिधि एवं समाज का सजग प्रहरी बन बैठता है ।

1· सामाजिक पुनर्निर्मान का समाजशास्त्र - विश्वम्भर दयाल गुप्त - पृ·36·
2· - वही -
3· - वही -

भीष्म साहनी संक्षेप में रचनाकार एवं समाज के अटूट सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि --

" लेखक जीवन की परतों को हमारे सामने खोलता है, एक नजरिया देता है, समाज के भीतर सक्रिय शक्तियों की भूमिका को समझने में मदद देता है, हमें सजग और सचेत करता है ।"[1]

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि समय के साथ-साथ सामाजिक स्थितियाँ बदलती हैं जिसके साथ साहित्य का प्रतिपाद्य भी बदलता है । परिवर्तित मन:स्थितियों के चित्रण हेतु नई भाषा शैली का आविष्कार करना रचनाकार का कर्त्तव्य है । वह पुरानी भाषा से नए भाव को उसके असली रंगों में प्रस्तुत नहीं कर सकता । कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक नई विचारधारा और नए जीवन का रूप स्पष्ट न हो जाए तब तक न कोई रचनाकार हो सकता है और न कोई नया उपकरण ही आविष्कृत हो सकता है । इसीलिए लेनिन ने कहा है कि " कला की सर्जना में व्यक्ति चेतना का प्रमुख योगदान रहता है और कलाकार की यह व्यक्ति चेतना उसके व्यापक जीवन दर्शन या जगदर्शन का अंग होता है । फिर भी कला मानव चेतना के सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति नहीं है । वास्तव में प्रत्येक महान, कलाकार अपने सिद्धान्तों की परिधि को तोड़कर वैचारिक सीमाओं का अतिक्रमण करके ही जीवन-यथार्थ के किसी महत्तर सत्य का उद्घाटन करता है ।"[2]

1· सामाजिक पुनर्निर्माण का समाजशास्त्र और साहित्य-विश्वम्भर दयाल पृ· 42·

2· लेनिन सम्पूर्ण वाङ्मय : भाग 10 : दल संगठन और दलीय साहित्य

﴾ग﴿ साहित्य रचना और पाठक :-

(साहित्य की व्याख्या समाजशास्त्रीय अध्ययन क्रम में एक संस्था के रुप में हुई है । जिस प्रकार विवाह, धर्म आदि संस्थाए मनुष्य के लिए आवश्यक है । उसी प्रकार साहित्य रुपी संस्था भी मनुष्य के विकास हेतु उपयोगी है । समाजशास्त्र की भाषा में समिति और संस्था में अन्तर होता है । समिति एवं संगठित समूह को कहते है और संस्था उस संगठित समूह द्वारा अपने हितों की पूर्ति हेतु अपनाए जानेवाली कोर्यप्रणाली का रुप कहलाती है । उदाहरणार्थ परिवार समिति है तो विवाह की विभिन्न प्रथाए एवं उपकरण परिवार के हितों को पूर्ण करनेवाली प्रणालियाँ है, इसलिए संस्था है । उपर्युक्त दृष्टिकोण से विचार करते हुए डंकन ने अपनी पुस्तक '*Language and Literature in Society*' में साहित्य को एक संस्था मानते हुए उसके 3 घटक तत्व माने है, लेखक, पाठक और आलोचक ।

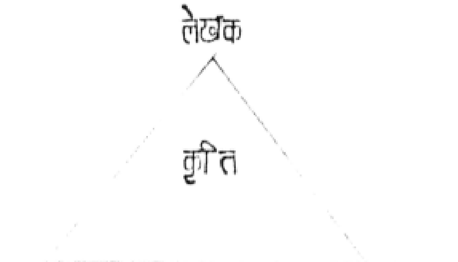

उनके अनुसार ये तीनों तत्व कृति पर आधारित है और इन तीनों घटकों के मध्य चलनेवाली अन्तःक्रिया साहित्यिक सम्बन्धों के माध्यम से सामाजिक सम्बन्धों को ही अभिव्यक्ति करती है । उदाहरणार्थ हम " रामचरित मानस " को ले सकते है जिसके रचनाकार तुलसी का सीधा-सम्बन्ध पाठकों से रहा है ? जहाँ तुलसी दास जी " स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा " कहते है । वही वे ये भी कहते है कि --

" किरती भनिती भूति भलि सोई सुरसरि सम सबकह हित होई ।

अर्थात् जहाँ वे पहले रामचरित मानस का 'स्वान्तः सुखाय' रचित मानते है वहीं वे उसे लोगों के सुनने से होने वाले हित की बात भी करते है । इस प्रकार ये व्यष्टि से उठकर समष्टि के तल पर आते दिखते है । जाहिर है उन्हें एक लम्बे अर्से तक कोई आलोचक नहीं मिला था । इसका कारण यह था कि उनका जो वास्तविक संदेश था वह उसी वास्तविक रुप में जनता तक नहीं पहुँच पाया । वे चाहते थे कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम द्वारा वे भारतीयों के जीवन में भी एक मर्यादा को जन्म दे । पर लोगों ने उसके एक आध्यात्मिक सन्देश कि रामचरित के पठन-पाठन से जीवन सार्थक हो जाएगा - को अपनाकर उसके सामाजिक पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं दिया । इससे बेहतर स्थिति तो मैथिलीशरण गुप्त की रही जिनका संदेश सीधे-सीधे लोगों ने ग्रहण किया । एक लम्बे अर्से के बाद शुक्ल जी ही वे पहले विद्वान थे जिन्होंने लोगों को मानस के वास्तविक संदेश से अवगत कराने की पहलकदमी की । उसके विपरीत हिन्दी कविता का " नेकनवाद " या " प्रपद्यवाद " जैसा आन्दोलन भी है जो पाठक से सर्वथा विमुख था । जबकि इसके रचनाकार का सम्बन्ध केवल आलोचक वर्ग से था ।

अब तक हमने देखा कि लेखक अथवा रचनाकार अपने समाज, जिसका कि वह एक अपरिहार्य अंग है, उससे सम्बन्धित किसी न किसी कटु मधु अनुभवों को अपना वर्ण्य बनाता है । लेखक वर्ग तो मानो सृष्टि के आदिकाल से ही है । पर " पाठक " वर्ग का आविर्भाव मुख्य रूप से मुद्रण कला के विकास के बाद ही मानना चाहिए । इससे भी पहले वह " श्रव्यकाव्य " के " श्रोता " और " दृश्यकाव्य " का " दर्शक " था । इन दोनों ही रूपों में उसकी अर्हता थी " सहृदयता " और आज भी " पाठक " के रूप में उसकी अर्हता " सहृदयता " एवं संवेदनशीलता ही है । पाठक के इन गुणों को काव्यशास्त्र में अभिनवगुप्त ने निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया ।

> " येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते
> मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता ते हृदय संवादभाज:
> सहृदया: । "

वामन ने काव्य के अधिकारी के रूप में सहृदयता के लिए अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी का प्रयोग किया है । यहाँ अरोचकी का सीधा अर्थ विवेकी से एव सतृणाभ्यवहारी का अर्थ अविवेकी ﴾ जिसे सत् असत् का ज्ञान न हो ﴿ है । कुछ अन्य विद्वानों ने पाठक के सूक्ष्म सौन्दर्य चेता रूप से प्रभावित होकर उन्हें " तत्वाभिनिवेशी " कहकर भी सम्बोधित किया है । इस प्रकार का पाठक ही आलोचक के पद पर आसीन होने का अधिकारी होता है । पाश्चात्य विद्वान अरस्तू ने सहृदयता को स्वीकार कर उसे आदर्श प्रेक्षक एवं विशिष्ट श्रोता कहा है ।

साहित्य में वर्णित विषय समाज से सम्बन्धित है । उसी समाज का एक अंग लेखक एवं पाठक दोनों ही है । इन दोनों का सबसे मूलवर्ती एवं वैद्य सम्बन्ध सौन्दर्य सर्जक एवं आस्वादक के रूप में है । साहित्य और पाठक के बीच जब तक इस प्रकार का संवेद्य संवेदक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, तब तक उसकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती । साहित्य का मुख्य कथ्य समसामयिक परिवेश से सम्बन्धित होता है । जिससे की लेखक और पाठक दोनों ही समान रूप से प्रभावित होते हैं । पर कहीं-कहीं लेखक और पाठक की चेतना का विकास समान धरातल पर नहीं भी होता है । जैसा कि अगर लेखक क्रान्तदर्शी हो तो वह प्राय: समय से आगे देखता है । ऐसी स्थिति में दोनों में वैषम्य तो देखा जा सकता है पर बाद में पाठक वर्ग भी उस साहित्य की अहमियत को समझ पाता है । काव्य के प्रयोजनों में यश का अन्तर्भाव प्रारम्भ से ही " काव्यं यशसे " के रूप में रहा है । जहाँ काव्य का अध्ययन-मनन का उद्देश्य ज्ञानार्जन था वहाँ लोग (पाठक) पण्डित वर्ग से सम्पर्क सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण समझते थे ।

आनन्द प्राप्ति की दृष्टि से साहित्य का पठन-पाठन होता है । आनन्द प्राप्त करते हुए ज्ञान की प्राप्ति भी होती है । आनन्द से यात्रा शुरू होकर लोकजीवन तक आती है । ज्ञान की प्रकृति पहले आध्यात्मिक मानी गयी थी । कालान्तर में आध्यात्मिकता की जगह भौतिकता ने ले ली । इस प्रकार लोक जीवन के अनेकानेक स्तरों को समझने में भी साहित्य उपयोगी माना जाने लगा । लौकिकता में आकर भी एक लम्बे अरसे तक साहित्य-समाज के भद्रजन(Elite Class) तक ही सीमित रहा । इसके बाद धीरे-धीरे साहित्य इस भद्रलोक की चारदिवारी से बाहर निकलकर जन जीवन की ओर उन्मुख होने लगा ।

जन-जीवन की ओर उन्मुख अर्थात् साहित्य अब जनता का हो गया। इस जनता के साहित्य के बारे में दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित रही हैं - एक मान्यता के अनुसार जनता के साहित्य से तात्पर्य ऐसे साहित्य से है जो यदि एक ओर जन जीवन की समस्याओं को, तो सम्पूर्णता के साथ विवेचित विश्लेषित करे ही साथ ही जनता तक उसके सम्प्रेषण में भी कोई कठिनाई उपस्थित न हो। इसके विपरीत गजानन माधव मुक्तिबोध का कहना है कि "जनता का साहित्य का अर्थ जनता को तुरन्त ही समझ में आने वाले साहित्य से हरगिज नहीं। अगर ऐसा होता तो किस्सा तोता मैना और नौटंकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते। साहित्य के अन्दर सांस्कृतिक भाव होते हैं। सांस्कृतिक भावों को ग्रहण करने के लिए बुलन्दी बारीकी और खूबसूरती को पहचानने के लिए उस असलियत को पाने के लिए जिसका नक्शा साहित्य में रहता है, सुनने या पढ़नेवाले को कुछ स्थिति अपेक्षित होती है। वह स्थिति है उसकी शिक्षा, उसके मन का सांस्कृतिक परिष्कार। साहित्य का उद्देश्य सांस्कृतिक परिष्कार है। मानसिक परिष्कार है किन्तु यह परिष्कार साहित्य के माध्यम द्वारा तभी सम्भव है जब स्वयं सुननेवाला या पढ़ने वाले की अवस्था शिक्षित (की) हो।[1] "यही कारण है कि मार्क्स का डास कैपिटल, लेनिन के ग्रन्थ, रोम्यारोलाँ के, टॉलस्टॉय और गोर्की के उपन्यास एकदम अशिक्षित और असंस्कृतों के न समझ में आ सकते हैं, न वे उनके पढ़ने के लिए होते ही हैं। "जनता का साहित्य" का अर्थ "जनता के लिए साहित्य" से है और वह जनता ऐसी हो जो शिक्षा और संस्कृति द्वारा कुछ स्टण्डर्ड प्राप्त कर चुकी हो।"[2]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली - भाग - 5 पृ. 75.
2. - वही - पृ. 75 - 76.

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि साहित्य के तीन वर्गीय पाठक हैं - (क) आलोचक (ख) वह वर्ग जो कृति एवं समीक्षा दोनों को पढ़ता है। (५१६४) कृति से समीक्षा एवं समीक्षा से कृति को बेहतर ढंग से समझ जाते हैं। (ग) जो समझे तो कुछ खास नहीं फिर भी सतही तौर पर पढ़ लेते हैं। हिन्दी साहित्य को सिर्फ प्रथम एवं तृतीय वर्ग के पाठक ही मिल पाए हैं। क्योंकि भारत में औद्योगीकरण का अभ्युदय एवं विकास ठीक उस ढंग से नहीं हो पाया जैसा कि यूरोप में। जबकि यह प्रक्रिया पश्चिम में ही हुई। दूसरी श्रेणी का पाठक वर्ग जिस साहित्य को मिलता है वह सबसे लोकप्रिय साहित्य होगा। यह सौभाग्य भारत में सम्भवतः बंगला और मलयालम साहित्य को ही प्राप्त है।

जनता में कविता पहले लोकप्रिय हुआ करती थी। काव्यकला के क्षेत्र में विकास के कारण कविता के क्षेत्र में नए प्रयोग शिल्प आदि के विकास के कारण वह विश्व कविता के सामान्तर खड़ी है पर हिन्दी के पाठक वर्ग का बौद्धिक विकास उतना नहीं हुआ है। " भारत - भारती " जितनी लोकप्रिय थी उतनी अज्ञेय और गिरिजाकुमार माथुर की कविताएँ आज नहीं हैं। ऐसी स्थिति में जो पाठक वर्ग है वह गद्य पढ़ने का इच्छुक है, क्योंकि गद्य में कविता के मुकाबले चीजों को समझना एक हद तक आसान है। गद्य में विशेष कर उपन्यास जो जीवन को समग्रता में देखता है। वह उसे पढ़ना चाहता है। पाठक वर्ग में इस प्रवृत्ति का नाजायज फायदा, साहित्य, कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय प्रतिगामी ताकतें उठाना चाहती हैं। इसका प्रमाण है अनेकानेक नामों एवं शीर्षकों से प्रकाशित लोकप्रिय उपन्यास, जिनका उद्देश्य जनता की चित्तवृत्ति को पतनशील बनाना है। हिन्दी के उपन्यासकारों के सामने ये लोकप्रिय उपन्यास एक चुनौती के रूप में खड़े हैं।

(घ) उपन्यास का समाजशास्त्र :-

साहित्य के अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास समाजशास्त्रियों के लिए सबसे अधिक अनुकूल है । क्यों कि " अपने समय, समाज और इतिहास की प्रक्रिया से परिभाषित मनुष्य ही उपन्यास रचना का लक्ष्य है और समाज शास्त्री अन्वेषण का भी ।"[1] समाजशास्त्र में मनुष्य को सबसे अधिक एक सामाजिक के रूप में अर्थात् उसके सामाजिक जीवन को ही केन्द्र में रखा जाता है । जब मनुष्य का यही जीवन साहित्य के विशेष कर उपन्यास जैसी विधा से होकर गुजरती है तो उसके जीवन का प्रत्येक पक्ष एक खुली किताब के समान स्पष्ट सामने आ जाता है । यह विधा अत्यंत विश्वसनीय भी है । इसीलिए मिशेल जेराफा ने लिखा है कि " उपन्यास ऐसी कला है जिसमें मनुष्य सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपित होकर सामने आता है ।"[2]

अब अगर हिन्दी उपन्यास जगत की ओर जरा हम अपना ध्यान बढाए तो हम पाते है कि उसका भी उद्‌भव और विकास गद्य की अन्य विधाओं के सामने भारतेन्दु काल में हुआ । इस काल में सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी तथा रूढ़िबद्ध प्रेमाख्यानक उपन्यास लिखें गए । जिसका जीवन से कोई सरोकार नहीं था । उनमें

---

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका मैनेजर पाण्डेय - पृ. 227.
2. - वही -

अस्वाभाविकता और अतिमानवीयता थी । कुछ मौलिक और जासूसी उपन्यास भी लिखे गए, इन सबों में औपन्यासिक कलात्मकता ‖ नैतिक शिक्षा, समाज सुधार, भारतीय आदर्श ‖ का अभाव था एवं उसका एकमात्र उद्देश्य मनोरंजन ही रह गया । परन्तु इसके बाद का युग प्रेमचन्द युग को जहाँ उपन्यास के विकास ने कुछ ज़ोर पकड़ा । इस का कारण यह था कि इस युग में जन-सामान्य को वाणी मिली और कला केवल मनोरंजन का खिलवाड़ न रहकर जीवन मर्मों की उद्घाटिका करने वाली बनी । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मानवतावादी कलाकार प्रेमचन्द के महत्व को बताते हुए कहा है कि --

" प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और उपेक्षित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे, गरीबों और बेकारी के महत्व के प्रचारक थे । अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा आकांक्षा, दु:ख सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते है तो प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता । झोपड़ियों से लेकर महलों, खोमचे वाले से लेकर बैंकों, गाँव से लेकर धार-सभाओं तक, आपको इतने कौशल पूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता । " [1]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियों से उद्धृत - पृ० 573.

प्रेमचन्द युग में राजनीति आज की भाँति अपने विकराल रूप में सामने नहीं आई थी फिर भी वह अपनी शैशवावस्था पार कर लड़खड़ाती हुई चाल चलने लगी थी । जिस कारण इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ने लगा । पर इनके उपन्यासों में राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याएँ सिर्फ गाँव जमींदार एवं किसानों पर ही मुख्य रूप से केन्द्रित थी । प्रेमचन्द जी को नगरीकरण, औद्योगीकरण इत्यादि का ग्रामीण समाज पर सम्भावित रूप में पड़ने वाले प्रभावों का अनुमान हो चुका था । जिसे होरी के पुत्र गोबर के माध्यम से दर्शाया गया है । जिसे देख कर साफ समझ में आ जाता है कि प्रेमचन्द नगरोन्मुखी हमारे क्षीण होते हुए ग्रामीण जीवन से ज्यादा खुश नहीं है । पर वे निसहाय थे । क्योंकि टूटे हुए बाँध से बहती जलधारा के समान यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ समस्त भारत वर्ष को अपने अन्दर ले लेना चाहा रही थी । तत्कालीन परिस्थिति में इन्सान के मनोविज्ञान में परिवर्तन हुआ । फल स्वरूप कुछ मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास भी पाए जाते हैं । ये बात जरूर है कि यहाँ मनोविज्ञान को सही तौर पर पकड़ा गया ।

प्रेमचन्दोत्तर काल में भी प्रेमचन्द का प्रभाव बरकरार दिखता है, क्यों कि इस काल में प्रसाद एवं कौशिक जैसे महान हस्तियाँ अपनी औपन्यासिक कृतियों के साथ सामने आयी, जहाँ औपन्यासिकता के निर्वाह का प्रयास जरूर है । यह युग भी सामाजिक उपन्यासों पर ही अधिक जोर देता हुआ महसूस हुआ ।

परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर काल में एक नया युग एवं नए परिवेश के साथ सामने आया । जहाँ "अनुशासनहीनता " या " अराजकता " ही थी । डॉ॰लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस स्थिति को इंगित करते हुए लिखा है कि " पुरानी पीढ़ी में " आत्म - विलास " पैदा हो गया था, वह " कामायनी " की देव सृष्टि की भाँति नष्ट प्राय थी, उसमें जड़त्व आ गया था । नई पीढ़ी में शक्ति, स्फूर्ति, अदम्य उत्साह और साहस था, किन्तु वह जड़ीभूत संस्कारों और वातावरण में पालित-पोषित होने के कारण सर्जनात्मकता की ओर अग्रसर न होकर ध्वंसात्मकता की ओर बढ़ी और " बुजुर्गों " की निगाह में " मार्गभ्रष्ट " और निन्दनीय ठहराई गई, पुरानी पीढ़ी ने अपने गिरिबां में निगाह डालकर नही देखा । यहीं से दो पीढ़ियों का संघर्ष, दो भिन्न विचार-धाराओं का टकराव शुरू हुआ जो परिवारों में युनिवार्सिटी और कॉलेज-कैम्पसों में सड़कों पर, यानी यत्र-तत्र सर्वत्र दिखाई देता है ।"[1]

उपर्युक्त वही बातों के प्रकाश में कुछ ऐसी समस्याओं ने हमारे उपन्यास, विशेषकर हिन्दी उपन्यास को प्रभावित किया जो तत्काल समाधान चाहते थे । उनमें भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार अनेकता में एकता, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व, सब धर्मों और जातियों के प्रति समभाव सबको अपने-अपने विश्वासों के अनुरूप धर्म-

---

1· डॉ॰ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - स्वातयोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ॰ 10·

चिरण की स्वतन्त्रता, अल्प संख्यकों के प्रति संरक्षण पिछड़ी हुई जातियों को प्रगति के मार्ग पर लाने के लिए उन्हें संरक्षण प्रदान करना, अशिक्षितों को शिक्षित बनाना स्त्रियों को पुरूषों के समान अधिकार देना और उन्हें राष्ट्रीय जीवन में पूर्ण रूप से भाग लेने और आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़े होने के अवसर प्रदान करना अछूत प्रथा का उन्मूलन करना आदि कुछ ऐसी बातें थी जिन्होंने हमारे बुद्धिजीवियों को एक नया केन्द्र-बिन्दु दिया, जिससे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास अप्रभावित न रह सका ।

अंग्रेजों की कूटनीतिक चालों के कारण भारत आर्थिक दृष्टि से पूर्णरूप से जर्जर हो गया था । उसी के साथ बढ़ती जन संख्या एवं नगरों और महानगरों की समस्या भी आ जुड़ी । नगरों की जन संख्या जिस तेजी से बढ़ रही है (Population - Explosion) उतनी तेजी से शिक्षा भोजन, आवास, यातायात, परिवहन, सफाई, प्रशासन आदि की व्यवस्था में वृद्धि नही हुई । नगरों की भीड़-भाड़ के साथ-साथ तकनीकी पिछड़े पन ने वर्तमान पीढ़ी के लिए संकट उपस्थित कर दिया है । नगरों के भीतर उपनगर और उनके बाहर दुनियाँ भर की गन्दगी और सड़ांध में लिपटा मानव जीवन नारकीय दृश्य उपस्थित करता है । इन सब बातों के कारण अनेक परम्परागत आचार संहिताएँ बदल रही है नैतिक मानदण्ड बदल रहे है और लोगों की दिन चर्या बदल रही है । जिसमें कोई किसी को साथ लेकर नहीं चल रहा, जिसमें व्यक्ति का महत्व नहीं के बराबर है । परिचित होते हुए भी

लोग अपरिचित जैसे लगते है । महानगरों को समृद्धि और भीड़भाड़ एवं यंत्रवत् जीवन के कारण और छोटे नगरों के जीवन के अभावों और विषम परिस्थितियों के कारण सामयिक उपन्यास साहित्य में उस मानसिक वृत्ति का जन्म हुआ जिसे " एलियनेशन "(alienation) और " बोरडम "(Boredom) कहा गया है । इस प्रकार की मन:स्थिति में मनुष्य स्वाभाविक रूप से एक प्रकार के मानसिक द्वन्द्व (Mental Conflict) को प्राप्त होता है । चूँकि मानव के बाह्य जीवन में जैसे संघर्ष, विरोध इत्यादि में द्वन्द्व प्रकट होता है, उसी प्रकार उसके अन्तर्जगत अर्थात् हृदय क्षेत्र में भी दो विरोधमयी प्रवृत्तियों के कारण द्वन्द्व चलता है । इन विरोध - मयी पक्षों के बीच " हाँ-नही " की खींचतान चलती है । मनो - विज्ञान ने नई दिशा की ओर संकेत दिया है । उपन्यास ही एक ऐसा जरिया था जिसके माध्यम से इन सभी स्थितियों का विस्तृत विवेचन-विश्लेषण हो सकता था । उपन्यासों का मुख्य धरातल मनो - विज्ञान और प्रधान विषय द्वन्द्व और विपलुत मानव समाज बन गया । नियति-द्वन्द्व और मानव में अधिकारी, अधिकार और अधिकृत का सम्बन्ध है । उपन्यासों में विशेषकर स्वातन्त्र्योत्तर काल में प्रेमचन्द का यथार्थमूलक सामाजिक द्वन्द्व और प्रसाद का भावमूलक व्यक्ति परक द्वन्द्व दोनों का वर्णन हुआ है । आज भारतीय ही नहीं पाश्चात्य साहित्यकार भी द्वन्द्वात्मक स्थिति को कथानक की प्रमुख वस्तु मानते है । जिसे टी॰ शिपले नामक विदेशी विद्वान ने इस प्रकार से वर्णित किया है ---

" The Events of the conflict from the plot, their decisive moments mark the climax of the play or story." (1)

इस प्रकार की परिस्थितियों में हमारे समाज में हर क्षेत्र में मूल्य मानदण्ड बदल गए । " मूल्य न केवल व्यक्ति की निरकुंशता पर नियन्त्रण रखते है, वरन् उसके व्यक्तित्व की सरंचना भी करते है जिसके फलस्वरुप मूल्यों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना जाता है । "[2]

स्वतन्त्र भारत में कम से कम बुद्धिजीवी मध्यवर्ग के सामने सामयिक जीवन एक बड़ा चैलेंज के रुप में आया है और जीवन में रिक्तता अजनबीपन, भग्नाशा, कुण्ठा, सत्रांस खोया-खोयापन, अलगाव, टूटने, भटकाव आदि का समावेश पाया जाता है । इन्हीं सब बातों का अनुभव आज का उपन्यासकार करता है और उपन्यासों में वैसा ही चित्रण भी करता है ।

" मूल्य " शब्द के साथ ही एक दूसरा शब्द भी स्वाभाविक रुप से आजुड़ता है -- वह है " प्रतिमान ", " प्रतिमान " को अंग्रेजी में " काइटीरिया " या " स्टेंडड " कह सकते है । पर हिन्दी में

---

1. The Dictionary of World Literature Terms. T. Shipley : Pg. 75
2. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ॰लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृ॰ 31॰

" प्रतिमान " शब्द का प्रयोग एक ऐसे " मानदण्ड " के अर्थ मे होता है । जो साहित्य में स्थापित होता है और जिसके आधार पर हम किसी रचना का परीक्षण कर कोई न कोई निर्णय लेते है । स्पष्ट है साहित्य के प्रतिमान भी शाश्वत नही होते -- जिस प्रकार " मूल्य " शाश्वत नही होते । समाज में प्रचलित किसी दृष्टिकोण विशेषकर उन्हें आधारित किया जाता है और जब तक वह दृष्टिकोण बना रहता है, तब तक रचनात्मक साहित्य का परीक्षण-विश्लेषण उसी की कसौटी पर होता है । मनुष्य की बदलती हुई अनुभूतियों और संवेदनशीलता के कारण " मूल्य " बदलते हैं । फलस्वरूप साहित्य को परखनेवाला दृष्टिकोण और दृष्ट - कोण बदलने से " प्रतिमान " बदलते हैं । चूँकि " प्रतिभूति " बदलते रहते है, वे काल और समाज सापेक्ष होते है । इन परिस्थितियों ने उपन्यास के क्षेत्र को सर्वाधिक प्रभावित किया है, क्यों कि उपन्यास में ही कथाकार स्वच्छन्द होकर समस्त स्थितियों एवं मनोस्थितियों का विषद वर्णन करने का मौका पाता है ? विशेषकर हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्ति के फलस्वरूप उत्पन्न राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश और एक नए युग बोध ने उपन्यास को परखने के प्रतिमान को बदल दिया है । आज जिस माहौल में उपन्यासकार जीता है, जिस यथार्थता और क्षण का भोग करता है, उसे चित्र करने के लिए वह पिटे-पिटाए प्रतिमानों को अवहेलना करता है तो कोई आश्चर्य नहीं चूँकि आज जिन्दगी योजनाबद्ध नही है -- वह किसी चीज में " बद्ध " नही है । इन्सान के बदलते हुए स्वरूप को, मानवीय सम्बन्धों के

परिवर्तित सन्दर्भों को अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाले सामयिक उपन्यास को निश्चित परिभाषा और प्रतिमानों के बांधना मुश्किल है ?

(इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर काल से लेकर आज तक उपन्यास के क्षेत्र में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ऐतिहासिक व गांधीवाद के जैसी प्रेमचन्द युगीन प्रवृत्तियों के साथ-साथ परवर्ती काल में मनोविश्लेषण वादी व्यक्तिवादी, मार्क्सवादी व आंचलिक प्रवृत्ति के उपन्यास भी सामने आए। विशेषकर साठोत्तर युग में इन सब प्रवृत्तियों के अन्तर्गत लेखकों ने महानगरीय जीवन की विसंगतियों एवं समस्याओं पारिवारिक सम्बन्धों की टूटन, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के नए आयाम, सामाजिक वैषम्य एवं निरन्तर बढ़ते हुए भ्रष्टाचार को व्यक्त करने वाले अनेक उपन्यास लिखे गए।)

(" उपन्यास का समाज शास्त्र " जैसे विषय का अध्ययन भारत के लिए बहुत पुराना नहीं है। भारत में विशेषकर हिन्दी के क्षेत्र में उपन्यास के समाजशास्त्र के विकसित होने का कारण उपरोक्त स्थितियाँ ही रही होगीं। हिन्दी उपन्यासों के विकास में बंगला उपन्यास विशेषकर बंकिमचन्द्र के विधेयवादी दृष्टि का ही मानो सीधा-साधा प्रभाव सबसे अधिक है। वे पूर्ण विधेयवादी बेशक आरम्भ में रहे हो। पर आलोचकार उनकी दृष्टि में वैज्ञानिकता स्पष्ट देखी जा सकती है। दूसरे शब्द में इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि अपने समय और समाज के निरीक्षक-परीक्षण और अन्वेषण की आधुनिक दृष्टि का एक रूप उपन्यास में मिलता है और दूसरा समाजशास्त्र में।)

रिचर्ड होगार्ट के शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि -- " उपन्यास में साहित्यिक कल्पना और समाज शास्त्रीय कल्पना की जो रचनात्मक एकता मिलती है । उसी की खोज और पहचान उपन्यास के समाजशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है ।[1]

उपन्यास आधुनिक युग का अगर गलत न हो तो फिल्म के बाद सर्वाधिक प्रतिनिधि कला-रूप है । उपन्यास को आधुनिक प्रेस की देन कहना अतिशयोक्ति भी नहीं होगी । इसके अतिरिक्त कई ऐसे कारण भी होते है जो किसी नई विधा को जन्म देने के लिए आवश्यक होते है । ये सभी कारण उपन्यास को उद्भव और विकास के लिए आधुनिक युग में ही उपलब्ध थे । इतने ठोस धरातल पर उद्भूत उपन्यास की समाजशास्त्रीय व्याख्या की अनेक दृष्टियाँ और पद्धतियाँ है ।

जब हिन्दी उपन्यास का उदभव हुआ उससे ठीक पूर्व भारतीय भाषाओं में बंगला में ही उपन्यास अपना स्वरूप निर्धारित कर चुका था । वहाँ विशेष कर बंकिम के उपन्यास दृष्टि (विधेयवादी) को लेकर ऊहापोह मची हुई थी । उसका ही हिन्दी उपन्यास पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था । इसके अति - रिक्त हिन्दी उपन्यास के असम्मुख और किसी भाषा के उपन्यास के प्रभाव को ग्रहण करने के लिए नमूने थे भी नहीं । परन्तु यह प्रभाव अधिक दिन नहीं टिका एवं हिन्दी उपन्यास ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया । इस यात्रा में सबसे अधिक अनुभववाद का स्वरूप सामने आया जब तिलस्मी एवं ऐय्यारी के चारदीवारी से उपन्यास को निकालकर

1· साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - मैनेजर पाण्डेय - पृ· 228·

जीवन के राजपथ पर प्रेमचन्द ने ला खड़ा किया तब उनकी दृष्टि भी अनुभव -
वादी हो थी । उन्होंने अनुभव किया कि ये तिलस्मी एवं ऐय्यारी उपन्यास
मानव जीवन के तत्कालीन वास्तविक अनुभव नहीं है । समाज की अधिकतर
जनता की जीवनावस्था इतनी दयनीय थी कि वह सेक्स एवं रोमांस में दिलचस्पी
नहीं ले सकती । यहीं से ये देखा गया कि हर युग के अनुभव का सारांश
विलासिता, अय्यारी, सेक्स एवं रोमांस नहीं है । बल्कि जीवन से सम्बन्धित
कुछ गूढ़ समस्याएँ हैं जो कहीं-कहीं तो जीवन की मूल आवश्यकताएँ (Basic
necessities) ही है और अगर किसी लेखक ने उपरोक्त
भोग विलासिता को काव्य बनाया हो तो वह सउद्देश्य हो रहा होगा ।

शुरू-शुरू में तो यह समस्याएँ सिर्फ समाज में मनुष्य की कुछ आवश्य-
कताओं तक ही जुड़ी रहीं । पर कालान्तर में पूंजीवाद, औद्योगीकरण एवं
वर्ग-विभक्त समाज के साथ-साथ मार्क्सवाद का आविर्भाव हुआ तो पता चला
कि मनुष्य का सामाजिक जीवन पूर्ण रूप से जटिलताओं से भरा हुआ है ।
जबकि यही सामाजिक जीवन मनुष्य जीवन के अन्य पक्षों (संस्कृति, राजनीति
और अनगिनत) की जड़ है । अगर यह एक पक्ष सफल हुआ तो मानो अन्य
पक्ष भी अपने-आप सफल हो जाएंगे । इसी क्रम में समाज शास्त्रीय अध्ययन की
प्रविधि विकसित हुई । उपन्यास ही साहित्य की वह विधा है जो समाज
के हर पक्ष का बड़े स्पष्ट एवं संजीदगी के साथ वर्णन कर सकती है । इसी लिए
" उपन्यास के समाजशास्त्र " जैसा एक विषय अध्ययन के क्षेत्र में सामने आया ।
हिपोलाइत तेन को ही - " उपन्यास के समाजशास्त्र " जैसे विषय का प्रणेता
एवं जनक माना जाता है । उनके उपरान्त मैडम डिस्टेल और अनगिनत विद्वानों
ने इस विषय को अपने आलोचना का केन्द्र बनाया ।

पश्चिम में औद्योगीकरण, वर्ग विभक्त समाज एवं मार्क्सवाद का भारत से पूर्व ही नज़ारा देख लिया था । पश्चिमी विद्वान गोल्डमान ने इन सभी स्थितियों को दृष्टि में रखकर ही " संरचनामूलक उत्पत्ति वाद " जैसे फॉर्मूले का " उपन्यास का समाजशास्त्र " के परिपेक्ष्य में इजाद किया ।

उपन्यास किसी स्थिति के केवल नाकारात्मक पक्ष को लेकर नहीं चलता है । वह सिर्फ स्थिति का ब्योरा प्रस्तुत नहीं करता है, बल्कि वह ऐसे अनगिनत जीवनमूल्यों को हमारे सामने रखता है ताकि हम विकट सामाजिक स्थितियों में भी सही जीवनमूल्य का चुनाव कर सके । परन्तु यह कह देने के साथ-साथ यह दुविधा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि उपन्यास कला है या सामाजिक दस्तावेज़। यह दुविधा मिशल जेराफा के कथन से स्पष्ट हो जाती है कि " उपन्यास के रूप का भी अपना इतिहास होता है । जो समाजशास्त्री उपन्यास की इस विशेषता की उपेक्षा करता है, वह यह नहीं पहचान पाता कि उपन्यास कैसे सामाजिक यथार्थ का संश्लिष्ट प्रतिरूप बनता है ।"[1]

उपन्यास और समाज के सम्बन्ध के अनगिनत स्तर और रूप है । जिनके बलबूते पर ये दोनों संयुक्त रूप में " उपन्यास का समाजशास्त्र " के नाम से जाने जाते है । इन दोनों के बीच इतना घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी एक विचित्र बात यह है कि उपन्यास का सामाजिक यथार्थ के बाहर कोई अस्तित्व नहीं है तो सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति मात्र से सभी उपन्यास कलात्मक कृति नहीं बन जाती ।

1• साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका – मैनेजर पाण्डेय – पृ• 231•

उपन्यास के समाजशास्त्र में उपन्यासकार की वर्ग चेतना, विचारधारा या विश्व दृष्टि के सहारे उपन्यास का सामाजिक अभिप्राय जानने का प्रयत्न किया जाता है। पर यहाँ एक मुख्य बात ध्यान देने योग्य है कि यह जरूरी नहीं कि उपन्यासकार केवल अपने ही वर्ग का ही वर्णन सफलता से कर सकता है। प्रेमचन्द मध्यवर्गीय होकर भी किसानों का वर्णन करते हैं। यह वर्गीय अतिक्रमण का उदाहरण है। सार्त्र ने भी इस बात की ओर इंगित करते हुए लिखा है कि यह ठीक है कि पाल वैलरी एक पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवी है, लेकिन प्रत्येक पेटी बुर्जुआ बुद्धिजीवी पाल वैलरी नहीं होता। इस प्रकार उपन्यासकार को केवल उसकी अपनी वर्गीयता की सीमा में रखकर उसकी रचना का मूल्यांकन करना खतरे से खाली नहीं है।

उपन्यास के समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में जहाँ तक यथार्थवाद की विजय का सवाल है यह बहुत ही अहम रोल अदा करती है। यथार्थवाद की विजय का अर्थ यह नहीं कि लेखक की विचारधारा की पराजय असल में समाज की वर्तमान अनिवार्यताओं और भविष्य की सम्भावनाओं की ओर प्रगतिशील शक्तियों के विकास की सम्भावनाओं को देखने में ही 'यथार्थवाद की विजय' है। इन अनिवार्यताओं और सम्भावनाओं को देखने-दिखाने की क्षमता ही विचारधारा है। इस प्रकार किसी एक की विजय और दूसरे की पराजय का सवाल ही नहीं है।

निष्कर्ष :-

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साहित्य किसी स्थिर फॉर्मूले पर नहीं चलता । जीवनानुभवों में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के रूप में भी विकास होता है । इस विकास का ही नतीजा है कि आज हमारे सम्मुख उपन्यास जैसी विस्तृत एवं समृद्ध विधा है । कुछ हो न हो हर काल में रचनाकार अपने समय की बातों को ही अपना कथ्य बनाता है । बेशक उस कथ्य का जीवन से सम्बन्धित मूल बातों से सम्बन्ध न होकर तत्कालीन वैभवपूर्ण, विलासितापूर्ण, अय्याशी से भरे जीवन का ही वर्णन हो पर वह अपने काल में ही जन्म लेता है एवं जीवित भी रहता है । पर आज यह एक स्वीकृत सत्य है कि सामाजिक यथार्थ को ही कथ्य बनाना है, क्यों कि इस यथार्थ के बाहर की दुनियाँ बिलकुल खाली है जहाँ वर्णनीय कुछ भी नहीं है । इसीलिए आज रचनाकार और समाज का, साहित्य और समाज तथा रचनाकार, कृति, पाठक एवं समाज का सम्बन्ध एक जंजीर के समान है । एक कड़ी-कहीं से टूटी नहीं कि यह सम्बन्ध धड़साहित हिल जाता है ।

समय के साथ-साथ जीवनानुभव बदले, नए विधाओं के विकास के दौर में सबसे सफल विधा उपन्यास हमारे सामने आई । आज की मांग के मुताबिक इसी विधा में सामाजिक यथार्थ के वर्णन की क्षमता है । उपन्यास एवं समाज के निकटतम सम्बन्ध के कारण ही उपन्यास के समाजशास्त्र जैसे एक अलग विषय का अध्ययन के क्षेत्र में आविर्भाव हुआ है । " उपन्यास के समाजशास्त्र " नामक विषय के विकास के बाद सामाजिक विषयों पर उपन्यास के समान ही विस्तृत विवेचन के योग्य कोई और विधा या विषय सामने नहीं आ पाया है ।

द्वितीय अध्याय

भारत में पूँजीवादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एवं राजेन्द्र यादव के उपन्यास

भारत में पूंजीवादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एवं राजेन्द्र यादव के उपन्यास

आज हमारे समाज में स्थिति अत्यन्त बदल गई है । इस बदलाव का आरंभ अंग्रेजों के आगमन एवं भारत में स्वतन्त्रता के लिए लड़ाई के साथ ही देखा जा सकता है । यह बदलाव सकारात्मक दिशा में हुआ होता तो फिर कोई बात नहीं थी पर इसकी दिशा नकारात्मक थी । स्वातन्त्र्योत्तर काल को " मोह भंग " का काल कहा गया । जहाँ भारतीय अंग्रेजों के अत्याचार से मुक्ति पाकर गांधी जी द्वारा देखें " राम राज " के स्वप्न को साकार कर, मुक्त वातावरण में श्वास लेने के लिए उत्साहित हो रहे थे, वहीं इसके विपरीत स्वातंत्र्योत्तर काल में देश की स्थिति को देख भारतीयों का उत्साह

ठण्डा पड गया । अंग्रेजों को " फूट डालो - राज करो " (Divide and Rule) की नीति से निकल जहाँ भारतीयों में आपसी एकता बढ़नी चाहिए थी वहीं उनमें आपसी दरार ही बढ़ती गयी । अगर गिरिराज किशोर के उपन्यास "जुगल बन्दी " के उस संदर्भ पर ध्यान दिया जाए जहाँ कुँवर शिवचरण अपने दीवान का भतीजा जो " लाम " पर गया हुआ है एवं विपरीत परिस्थिति के कारण उसे वापस बुलवाने के लिए सिफारिश करने से हिचकिचाते हुए दिखते हैं तो जरा आशा बँधती है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् शायद स्थिति शान्तिप्रद होगी । पर इसके विपरीत राजपाट हमारे हाथों में आकर घूसखोरी, भाई-भतीजावाद एवं भेद-भाव का साम्राज्य हो गया । इस स्वातन्त्र्योत्तर अशान्तिपूर्ण स्थिति का वर्णन राही मासूम रज़ा ने सीन 75 में बड़ी व्यंग्यात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है जिसे अगर जरा गहराई से देखाजाए तो देश के स्थिति के प्रति हमारा हृदय दहल उठेगा, उन्होंने लिखा है कि --

" देश नया-नया आज़ाद हुआ था, आजादी के फौरन बाद देश में बड़े आदमियों की पैदावार एकदम से बढ़ गई थी और सड़कों की गिनती में कोई खास बढ़ौती नहीं हुई थी, नतीजे में बड़े आदमी ज्यादा हो गए और सड़कें कम पड़ गईं । तो एक-एक सड़क के दो-दो तीन-तीन नाम रखे गए । .... " छोटे बेटों को समझाया गया कि वह भी मौके का फायदा उठा कर लाला आरिफोलाल मिमोरियल नेशनल डिग्री कालेज खोलकर अपने साले को उसका प्रिंसिपल बना दे ।" [1] स्वतन्त्रता के उपरान्त जहाँ भाई-भतीजावाद का बोलबाला चल पड़ा, वहीं घूस खोरी ने भी अपनी

---

1. सीन 75 - राही मासूम रज़ा - पृ. 11-12.

पूरी रफ्तार पकड़ ली । " सौगात " के नाम पर ऊँचे अफसरों से काम निकालने के लिए उनकी पत्नियों को भी खुश किया जाने लगा,। भगवती चरण वर्मा ने इसे अपने उपन्यास " भूले बिसरे चित्र " में इस प्रकार दिखाया है ---

" अबे, हम यह झाबा सरकार के लिए थोड़े ही लाए है । यह तो नम्बरदारिन ने नायब तहसीलदारिन के लिए आनेवाले होली की सौगात भिजवायी है .... " ।

पर इन सब की जड़ में ये अर्थ सम्बन्धी कुछ नए आधार सम्पत्ति एवं सुविधाओं के अनियमित वितरण से देश में एक प्रकार की अशान्ति छा गई थी । इससे पूर्व सामन्ती युग में भी वर्ग विभक्त समाज था। पर वर्गों के बीच के सम्बन्ध निश्चित थे । भीष्म साहनी के मय्यादास की माड़ी के एक संदर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है --

" किसी को यह बात भी अटपटी लगने लगी थी कि एक ही रफ्तार पर चलती हुई गाड़ी सेठ-साहूकार को भी अपने ठिकानें उतनी ही देर में पहुँचाएगी, जितनी देर में भंगी चमार को ।" 2

1• भूले बिसरे चित्र - भगवती चरण वर्मा - पृ• 26•

2• मय्यादास की माड़ी - भीष्म साहनी - पृ• 145•

पर जब वर्ग विभाजन के ही नियम कुछ निर्धारित एवं निश्चित नहीं है तो फिर विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच का सम्बन्ध भाई चारे का होना भी सन्देहास्पद ही है । इस मोड़ पर आकर ऐसा महसूस होने लगा कि हमारे जीवन के प्रति जो मूल्यों-मानदण्ड है वे पूर्णरूप से परिवर्तित हो रहे है पर यह परिवर्तन एक सुखमय जीवन की ओर इशारा करता हुआ नहीं दिख पड़ता । हमारे स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों ने इन स्थितियों का सिर्फ ब्योरा ही नहीं बल्कि इनकी गहराईयों एवं जटिलताओं को भी देखा एवं सामने लाने का प्रयत्न भी किया है ।

कहना न होगा कि राजेन्द्र यादव हमारे समय के महत्वपूर्ण शब्द-कर्मी है । उन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यमों से भारतीय समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के क्रम में जो विसंगतियाँ रही है उन सब पर अपनी पैनी दृष्टि डालते हुए, बिना किसी लाग-लपेट के सत्य को अपनी अनेकानेक कृतियों में उजागर किया है । वस्तुतः उपन्यासकार राजेन्द्र यादव की दृष्टि में हमें एक साहित्यकार की संवेदनशीलता के साथ-साथ एक समाजशास्त्री की विश्लेषण क्षमता भी दृष्टिगोचर होती है । जिस कारण उनकी कृतियाँ हिन्दी कथा साहित्य में मील का पत्थर सिद्ध होती हैं ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक आर्थिक स्थिति एवं उनकी जटिलताओं एवं विसंगतियों को चित्रित करने वाले उपन्यासों से गुजरने पर स्पष्ट हो जाता है कि ....

उपरोक्त स्थितियों को जटिल बनाने वाले जो कारण थे वे वे अंग्रेजी सरकार की नीतियों से उत्पन्न थे जिसका कि विकास परवर्ती काल में हुआ । इस अध्याय में उनका एक सामान्य अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है --

(क) ढहते सामन्ती मूल्य तथा पूंजीवाद का अभ्युदय :-

सामन्ती समाज व्यवस्था उत्पादन एवं वितरण प्रणाली की दृष्टि से मुख्यत: कृषि पर आधारित समाज व्यवस्था है । इसके अपने कुछ जीवन मूल्य भी हुआ करते हैं । जो कि हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य में अनेकानेक स्थलों पर अभिव्यक्त होते हुए देखे जा सकते हैं । 19 वीं शताब्दी के मध्य में जब 1857 की राज्यक्रान्ति असफल हो जाती है । वहीं से ब्रिटिश साम्राज्य की जड़े हमारे देश में ज्यादा गहरी होती हुई प्रतीत होती हैं । ब्रिटिश साम्राज्यवाद के जड़ों का भारतीय भूमि पर जमने का यह काल वस्तुत: संक्रमण का काल था । जाहिर है कि भारतीय समाज में सामन्ती मूल्यों की विघटन की प्रक्रिया का प्रारम्भ अंग्रेजों के भारत में पदार्पण से ही शुरू हो गया । जहाँ सामन्ती अर्थ-व्यवस्था टूटने लगी । अंग्रेज सरकार अपने प्रभुत्व को कायम रखने के लिए शोषण के मार्ग पर चल रही थी । जहाँ उन्हें अपनी कूटनीतिक चालों के अनुसार अनेक झूठे सब्जबाग भारतीयों को उनके आवश्यकता के अनुसार दिखाने पड़े । तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार अंग्रेजों ने भारतीयों की मानसिकता को पहचाना । उन्होंने पाया कि सामन्ती युगीन मुंशियों की स्थिति अब पहले जैसी नहीं है अब मुंशी पिता के पुत्र को मुंशी बनना गंवारा नहीं था । बल्कि वे अब नौकरी-पेशा को

तलाश में थे। इस स्थिति का फायदा उन्होंने भली प्रकार से उठाया और भारतीयों के इच्छा के मुताबिक उनके लिए नौकरी भी जुटाने लगें। इस टूटते हुए सामन्ती मूल्यों की ओर राजेन्द्र यादव ने अपने उपन्यास " सारा आकाश " में इंगित किया है जहाँ सामन्ती मूल्यों के अनुसार पुत्रों का विवाह तो बेरोजगार होते हुए भी कर दिया जाता है, क्यों कि परिवार की सम्पत्ति ही उनके लिए काफी थी तथा उन्हें किसी भी प्रकार की नौकरी पर निर्भर रहना नहीं पड़ता था। पर अब परिवर्तित सामन्ती मूल्य ढहने लगे हैं। समर नौकरी की तलाश कर रहा है तो घर के बुजुर्ग भी उसके साथ है। समर कहता है " भाई साहब, बात यह है कि जब तक कोई अच्छी डिग्री न हो तो नौकरी भी ढंग की नहीं मिलती, बड़े-बड़े बी॰ए॰, एम॰ए॰ तक यों ही घूमते हैं। आहत स्वर में भाई साहब ने कहा " सो तो ठीक है, लेकिन उस डिग्री के लिए खर्चा भी तो चाहिए .....। " 1

समर को नौकरी मिल जाती है तो घरवालों का रुख समर और प्रभा के प्रति एकदम से बदल जाता है। कमाऊ बेटे की पत्नी प्रभा के जरिए राजेन्द्र यादव ने इसे दिखाया है --

" नहीं, खास बात तो नहीं, वैसे ही, हर बात ये देखती हूँ। पहले जिन बातों पर बुरी तरह कलह होती थी, अब उनको तुम्हारी अम्माजी और भाभी जानबूझकर तरह दे जाती है। अब तो अम्मा बात बात

---

1. सारा आकाश - राजेन्द्र यादव - पृ॰ 188.

में कहती है, कि वह सहारा दे देगा तो मुसीबतें कुछ कम हो जाएंगी ....." [1]
इसी बात को भगवतीचरण वर्मा ने भी अपने " भूले-बिसरे चित्र " उपन्यास में दिखाने को प्रयत्न किया है। वहाँ स्पष्ट अंग्रेज अफसर मुंशी को अपने शीशे में उतारने के उद्देश्य से उसके पुत्र को नौकरी दिलाता हुआ कहता है कि ---

" वेल, मुंशी, तुम भी क्या कहेगा। हमने तुम्हारे लड़के ज्वाला प्रसाद को नायब तहसीलदारी पर नामज़द करवा दिया है।"[2] इस खबर से ही मुंशीजी अत्यन्त खुश हो जाते हैं।

जैसे ही साम्राज्यवादी शासन के तहत इस नौकरी पेशा वर्ग की अवधारणा सामने आयी वैसे ही सामन्ती व्यवस्था को सशक्त करने वाला पक्ष " संयुक्त परिवार " विघटित होता हुआ दिखाई पढ़ने लगा। तब तक संयुक्त परिवार में जितनी भी कठिनाईयाँ क्यों न हो, वह अपने अस्तित्व को बनाए हुए थी। पर अब सारा-आकाश का समर प्रभा से कहता है कि " नहीं प्रभा, ऐसा क्यों सोचती हो ? यहाँ की मजबूरियाँ तुम भी जानती हो, मै भी जानता हूँ। मैं तो चाहता हूँ कि हम लोग हमेशा साथ ही खाना खाया करे। प्रोफेसर होने के बाद जब हमें अलग से मकान मिल जाएगा तो देखना तुम्हें कभी कोई शिकायत करने का मौका नहीं दूंगा। अब यहाँ हर बार आकर यह भी तो नहीं पूछ सकता कि तुमने खाना खा लिया या नहीं। कल को इसी बात पर एक हंगामा और मच जाएगा।"[3]

---

1. सारा आकाश - राजेन्द्र यादव - पृ. 196
2. भूले-बिसरे चित्र - भगवती चरण वर्मा - पृ. 11.
3. सारा आकाश - राजेन्द्र यादव - पृ. 227.

जहाँ सारा आकाश में समर का परिवार शिक्षा को एहमियत देता है पर पैसे की कमी के कारण उसे पूरा नहीं कर पाता । वैसे ही अनेक भारतीय परिवार जो मध्यवर्ग से सम्बन्ध रखते हैं अंग्रेजों द्वारा दिए इस शिक्षा व्यवस्था द्वारा प्रभावित होते हैं एवं उसके सदस्य क्लर्क की नौकरी ही क्यों न हो उसकी तलाश करते हैं । अंग्रेज स्वयं अपनी शिक्षा-व्यवस्था के माध्यम से एक " बाबू वर्ग " की उत्पत्ति चाहते थे ताकि उसका प्रशासकीय कार्य सुचारू रूप से चल सके । इसी के माध्यम से उन्हें कुछ हद तक अपने " फूट डालने " की नीति में भी सफलता मिल सकती थी क्यों कि इस शिक्षा एवं नौकरी को जिन भारतीयों ने अपनाया उनकी मानसिकता अन्य लोगों से निश्चित रूप से भिन्न होती गयी । जिससे एक भारतीय दूसरे भारतीय से अपने-आप दूर हटने लगा । अंग्रेज कुछ हद तक अपनी चाल में कामयाब भी रहे । उनकी इस शिक्षा से एक और नुकसान का सामना भी भारतीयों को करना पड़ा । वह यह कि " अंग्रेजी शिक्षा " से प्रभावित होकर कुछ भारतीय नवयुवक गुमराह हो रहे हैं ? जिसे निर्मल वर्मा ने अपने " वे दिन " के नायक के माध्यम से दिखाया है । जो भारत से प्राग (विदेश) में पढ़ने को गया है । वहाँ वह पढ़ने से अधिक विदेशी शराबों की चुस्कियाँ लेता है । अपने कमरे में कुछ विदेशी लड़कियों को लाकर गुलछर्रे भी उड़ाता है । इस प्रकार के कामों के लिए पैसे की कमी आने पर " गाइड " का काम करके अपना वक्त बरबाद करता है । परन्तु इतना कुछ होते हुए भी इस शिक्षा से जो एक महत्वपूर्ण फायदा भारत को हुआ । वह पहले के सम्पूर्ण नुकसान की मानों भरपाई कर देता हो ।

इसी शिक्षा व्यवस्था से प्रभावित कुछ मध्यवर्गीयों ने ही महसूस किया कि अगर अब वे जरा भी देर करें तो भारत गुलामी के गर्त में इस हद तक चला जाएगा कि उसे बाहर निकालना मुश्किल हो जाएगा एवं ब्रिटिश सरकार भारत में पूर्णरूप से पैर जमा लेगी । फलत: भारतीयों के रक्त में गुलामी इस हद तक घर कर जाएगी कि उनमें स्वतन्त्रता के भाव जागृत करना मुश्किल हो जाएगा । कुछ लोग विशेष कर " गुनाहों का देवता " के डॉ॰ शुक्ला तो खुलकर यह भी देते है कि " मुझे भी हिन्दोस्तान पर गर्व है । मैंने कभी कांग्रेस का काम किया । लेकिन इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि जरा सी आजादी अगर मिलती है हिन्दोस्तानियों को तो वे उसका भरपूर दुरुपयोग करने से बाज नहीं आते और कभी भी ये लोग अच्छे शासक नहीं निकलेंगे ।" [1]

इसी शिक्षा व्यवस्था से प्रभावित कुछ मुट्ठीभर भारतीयों ने ही इनके शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध का कार्य आरम्भ किया । यह घटना अंग्रेजों के लिए अप्रत्याशित थी, क्योंकि अब तक उन्होंने पाया कि भारतीयों को विशेष कर सामन्ती वर्ग के लोगों को झूठे आदर और सत्कार से जीता जा सकता था । जैसा कि गिरिराज किशोर की " जुगलबंदी " उपन्यास में कुंवर शिवचरण के माध्यम से दिखाया गया है । कुंवर शिवचरण से अंग्रेजी सरकार भली-भाँति घुलमिल गई है । पर कुंवर शिवचरण इस घालमेल के आड़ में छिपे " वार फण्ड " के मुद्दे को समझ नहीं पाते । बेटा एवं बहू दोनों अत्यन्त बीमार हैं । उनके पास लखनऊ जाकर उनके इलाज के लायक भी पैसा नहीं है । बहू के जेवर " को " वार फण्ड " के लिए अंग्रेजों के पास गिरवी रखने की नौबत तक आ जाती है । फिर भी अंग्रेजों द्वारा उनके प्रति दिखाए झूठे आदर से उनकी आँखें इतनी चौंधिया गई है कि

1• गुनाहों का देवता - धर्मवीर भारती - पृ• 52•

वे ये कहते हुए नहीं चूकते कि " आखिर उन्होंने हमें इस लायक समझा " और वे " वारफण्ड " के खिलाफ आवाज़ उठाने की शक्ति ही खो देते हैं । पर उन्हीं के मित्र का लड़का चतर सिंह आधुनिक शिक्षा प्राप्त नवयुवक है । उससे भी अंग्रेज सरकार ने " वारफण्ड " की फरमाईश की है पर वह अंग्रेजों के 'उ' क्लास कैद में रहना मंजूर करता है पर " वारफण्ड " के पैसे देना मंजूर नहीं करता । उसकी माँ रानी साहिबा जेल में बेटे की हालत देख दुख प्रकट करती हैं तो " चतरसिंह हंस कर बोले माँ क्या बात करती हो । मैं कोई चोरी चकारी में जेल गया हूँ । मेरी लड़ाई तो उस सरकार से है ।"[1]

जाहिर है कि मध्यवर्ग ने ही स्वतन्त्रता आन्दोलन को नेतृत्व भी प्रदान किया । देशवासियों के इस प्रकार के विकास ने हमारे समाज को, जिसकी गति अवरुद्ध होकर रुग्ण हो गई उसे गतिशीलता प्रदान करना जनता में सामाजिक, सांस्कृतिक संरचना और मानसिकता में संक्रमण की स्थिति उत्पन्न करने में सहायता प्रदान की ।

भारत एक कृषि प्रधान देश है । इसके केन्द्र में है - भूमि, कृषि, किसान, अनाज एवं खाद्य इत्यादि । इसीलिए अंग्रेजी सरकार ने सबसे पहले भारत की भूमि व्यवस्था पर प्रहार करना अपने हित में समझा । वस्तुत: भारत पर अंग्रेजों के निरन्तर वर्धनशील प्रभुत्व का इतिहास एक ब्रिटिश

---

1. जुगल बंदी - गिरिराज किशोर - पृ. 55

भारत की सामन्ती अर्थ-व्यवस्था के पूँजीवादी रूपान्तरण का भी इतिहास है । चाहे वह रूपान्तरण अधूरा और विकृत हो क्यों न रहा हो ।" [1]

शुरू से हो भारत में भूमि-व्यवस्था के क्षेत्र में कोई भू-स्वामी जैसा नहीं था जिस-कारण यहाँ कोई अभिजात्य वर्ग उत्पन्न भी नहीं हो पाया । सिर्फ राजा या जमींदार किसानों से लगान वसूल करते थे । पर अंग्रेजों ने भारत में फूट डालने के उद्देश्य से हो भू-स्वामित्व की नीति को लाना चाहा । भारत के कुछ हिस्सों में जमींदारी प्रथा लायी गयी । पर यह जमींदार वर्ग उत्पादन, मुनाफा इत्यादि से बिलकुल बेखबर वर्ग था । अंग्रेज सरकार कृषि व्यवस्था को नष्ट कर अपना उद्योग-धंधा खड़ा करना चाहती थी । पर पुरानी पीढ़ी के बुजुर्ग इस नई व्यवस्था को गले से नीचे नहीं उतार पाए । जिसे भीष्म साहनी ने अपनी उपन्यास " मय्यादास की माड़ी " में स्पष्ट दिखाया है --

" गाँव में पटवारी है ना उसका क्या काम है ? वह जमीन के अन्दराज रखता है । ठीक है ? दीवान मय्यादास धीरे-धीरे समझाता हुआ सा बताने लगा ।" [2] दूसरी तरफ भारत के कुछ हिस्सों में किसानों को भू-स्वामित्व मिल गया । इसमें भी ब्रिटिश सरकार की यह चाल थी कि किसानों द्वारा उत्पन्न चीजों का व्यवसायी करण हो जाए तो उनका मन भी कृषि से उचट जाएगा तो अंग्रेजों को खुला मैदान प्राप्त हो जाएगा

---

1. छायावाद का समाजशास्त्र : डॉ॰ शशिमुद्राज : पृ॰ 102
2. मय्यादास की माड़ी : भीष्म साहनी - पृ॰ 123

इसी लिए अब लगान चीजों के रूप में नहीं, नकद के रूप में लगान लिया जाने लगा । यहीं से पूँजीवाद का अभ्युदय होता हुआ दिख पड़ता है । पूँजीवाद से मतलब " आधुनिक पूँजीपति वर्ग से अर्थात सामाजिक उत्पादन साधनों के स्वामियों और उजरती श्रम के मालिकों से है । .... " ।

कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र में मार्क्स-एंगेल्स ने पूँजीवादी समाज व्यवस्था के बारे में ठीक ही लिखा है कि " आधुनिक पूँजीवादी समाज ने, जो सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग विरोधों को खत्म नहीं किया । उसने केवल पुराने के स्थान पर नई अवस्थाएँ और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह नए रूप खड़े कर दिए हैं । किन्तु दूसरे युगों की तुलना में हमारे युग की पूँजीवादी युग की विशेषता यह है कि उसने वर्ग विरोधों को सरल बना दिया है । आज पूरा समाज दो शत्रु शिविरों में, एक-दूसरे के खिलाफ खड़े दो विशाल वर्गों में-पूँजीपति वर्ग और सर्व हारा वर्ग " में अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा है । [2] पूँजीपति वर्ग ने इतिहास में बहुत ही क्रान्तिकारी भूमिका अदा की थी । इस वर्ग ने, जहाँ पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहाँ सभी सामन्ती, पितृ सत्तात्मक और काव्यात्मक सम्बन्धों का अन्त कर दिया । उसने मनुष्य के अपने " स्वाभाविक बड़ों के सत्यबोध रखने वाले नाना प्रकार के सामन्ती सम्बन्धों को निर्ममता से तोड़ डाला और नग्न स्वार्थ के " नकद पैसे – कौड़ी " के हृदयशून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध बाकी नहीं रहने दिया ।

---

1. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र – मार्क्स एंगेल्स – पृ॰ 35
2. – वही – पृ॰ 36॰

जिस तरह पूँजीपति वर्ग ने देहातों को शहरों का आश्रित बना दिया है, उसी तरह उसने बर्बर और अर्द्ध बर्बर देशों को सभ्य देशों का, कृषक राष्ट्र को पूँजीवादी राष्ट्रों का, पूरब को पश्चिम का आश्रित बना दिया है ।"[1] यह पूँजीवाद हमारे सामने अनेक स्थितियों से होकर गुजरता है जैसे माल तैयार करना, मुनाफे पर उसे बेचना, माल तैयार करने और बेचने के लिए पूँजी एकत्रित करना इत्यादि । इन सबमें सबसे अधिक प्रमुख स्थिति वह है जहाँ सौदागर मुनाफे के लिए माल तैयार कराता है और पेशगी धन देकर कारीगर को श्रमशक्ति खरीद लेता है । इन्हीं दो विशेषताओं के कारण उत्पादन का यह तरीका पूँजीवादी कहलाता है । इस दौर में ही पूँजीवाद का विभिन्न रूप भी भारत में दिखाई देने लगा । जैसे व्यापारिक पूँजीवाद, औद्योगिक पूँजीवाद इत्यादि । इसका कारण यह था कि तब तक ब्रिटिश सरकार भारत में अपनी पैर जमा चुकी थी, ब्रिटेन में पूँजीवाद एवं उसके विभिन्न रूप सामने आ चुके थे । फलस्वरूप उसका भारत में भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ।

औद्योगिक पूँजीवाद जहाँ मशीनों को प्रमुखता थी, उसके आ जाने से देश में अशान्ति का वातावरण भी दिखने लगा । मनुष्य-मनुष्य के बीच मानवीयता पूर्ण सम्बन्ध के स्थान पर एक जड़वत् मशीनी सम्बन्ध घर करने लगा । जिसका कि वर्णन राजेन्द्र यादव ने अपने "उखड़े हुए लोग" में देशबन्धु जी के माध्यम से अभिव्यक्त किया है --

---

1. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषण पत्र - मार्क्स एंगेल्स - पृ॰ 41

" मजदूर एक आ गया मशीने, चार पाँच दिन पहले की बात है । मशीन तो मशीन है - आप लापरवाही से काम करेंगें तो वह बख्श थोड़े ही देगी ? उसमें तो मशीन की तरह ही जड़ और सक्रिय बन जाने की जरूरत पड़ती है । वहाँ मानवीय कमजोरियों के लिए " कन्सी डरेशन " की जगह थोड़े ही है ? और बापू इस मशीन के विरोधी क्यों बने ? इसी लिए कि वह जड़ बना देती है - और वह तो मानवता का मसीहा था -- यह सब कैसे देखता ? मशीन के सम्पर्क में आप रहेंगे, तो मशीन ही होंगे । सो मजदूर क्या आ गया, चारों को ले उड़ने का अवसर मिल गया, हम हर्जाने या कम्पैन्सेशन को मना कब कर रहें हैं ? लेकिन यह तो नहीं होगा कि उसके नाम पर, एक खरी भर मागें आप पेशकर दे और दबाव डाले कि मंजूर हो ही जायें .... । "[1] आगे बीजनेसमैन देशबंधु की व्यापारिक मनोवृत्ति को सूरज जी अभिव्यक्त करते है --

" हर जगह यह " बिजनेसमैन " है । यह दूसरा गुण भी हो सकता है, क्यों कि मैंने विकट से विकट परिस्थितियों में इसे दिमागी रूप से खूब व्यवस्थित पाया है । ऊपर से ऐक्टिंग चाहे जो करता रहे, लेकिन उसके दिमाग में यह बिल्कुल साफ रहता है कि मुझे यह करना है और चूँकि बिजनेसमैन है, इसीलिए हमेशा लाभ वाला पलड़ा ही चुनता है । "[2]

---

1. उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 283.
2. भारत में अंग्रेजी राज एवं मार्क्सवाद - रामविलास शर्मा ।

अब तक भारत में ऐ स्वामीत्व के अभाव के कारण किसी अभिजात्य वर्ग का अभ्युदय नहीं हो पाया था, पर पूंजीवाद के अभ्युदय के साथ-साथ इस आभिजात्य वर्ग को बीज वपन हो गया। अब तक सामन्ती वर्ग ही श्रीमंत वर्ग थी। पर अब जिसके भी पास पैसा हो वही भूमि खरीद कर उसका स्वामी बनने लगा। इसी भू-स्वामीत्व एवं अभि-जात्य वर्ग का उदय अपने प्रारम्भिक रूप में ही इजारेदारी स्थान का परिचय देता है। जिसे रामविलास शर्मा ने बड़े सुलझे ढंग से समझाने का प्रयत्न किया है ---

"चाहे व्यापार हो, चाहे माल की पैदावार पूंजीवाद की प्रवृत्ति होती है कि एक शक्ति शाली गुट दूसरे गुटों को दबाकर अपना इजारा कायम करे। व्यापारिक पूंजीवाद के युग में इजारेदार कम्पनियों का निर्माण और उनकी शक्ति का प्रसार इसी प्रवृत्ति का सूचक है। ये कम्पनियाँ इतनी ताक्तवर है कि वे राज्य सत्ता पर हावी हो जाती है अथवा उसे अपना समर्थन करने को मजबूर करती है। राज्य सत्ता से पूंजीपतियों का गठबंधन पूंजीवाद की विशेषता है।" [1]

भूमि के इजारेदारी जो कि पूंजीवाद के अभ्युदय का फल था उसी के फलस्वरूप भारतीय बाजार विश्वबाजार के कटघरे में आ खड़ा हुआ। जाहिर है भारत में व्यापारिक पूंजीवाद की प्रधानता थी। पर भारतीय व्यापारिक पूंजीवाद पश्चिम से भिन्न थी, क्यों कि

---

1. भारत में अंग्रेजी राज एवं मार्क्सवाद - राम विलास शर्मा - पृ० 252

भारत में उत्पन्न माल अपने में सर्वोत्तम थी । इसी कारण वह आयात-निर्यात का एक अच्छा अड्डा बन गया । इसी आयात-निर्यात के व्यापार में सर्वाधिक मुनाफा भी था ।

इस प्रकार की परिवर्तित पूंजीवादी स्थितियों के आगमन से हमारी उपन्यास विधा अछूती नहीं रही । भीष्म साहनी ने अपने " मय्यादास की माड़ी " में इस परिवर्तन की प्रक्रिया को स्पष्ट दिखाया है ।

" अब तक मुखिया जिन्स ले लेता था, ना ? अब वह जिन्स नहीं लेगा, अब वह लगान की रकम वसूल करेगा ..... अब तो पैसे का बोलबाला है, सब काम नकद पैसे के बल पर चलता है ।" [1]

ऐसी स्थिति में अंग्रेजों को खुला मैदान मिल गया । भारतीय बाज़ार को वे अपने लायक बनाने में सफल भी हो गए । इस दौर में भारतीय कुटीर-उद्योग नष्ट होने लगे, क्यों कि प्रत्येक उद्योगपति से नियत मात्रा में ही माल लिया जाना निश्चित हुआ । इस प्रकार गाँव में किसी भी प्रकार के रोजी-रोटी के साधन के अभाव में जनता नगर की ओर बढ़ने लगी । यहाँ केवल कारखानों में उन्हें आशा की ज्योति दिखाई पड़ने लगी । "उखड़े हुए लोग " का " शरद " इसका जीता - जागता उदाहरण है । जिसकी जिन्दगी में रोजी-रोटी का सवाल आ खड़ा

---

1. मय्यादास की माड़ी - भीष्म साहनी - पृ. 123 - 125.

हुआ है । उसे अपने गाँव से पूरी आशा छूट जाने के कारण ही वह शहर की तरफ आता है । जब कि उसके पास नौकरी सम्बन्धी कोई स्थिति स्पष्ट नहीं है फिर भी वह अपनी भूमि से उखड़ने को बाध्य है । " मन दूसरी ओर मोड़ने के लिए उसने जेब से तार का लिफाफा निकाल लिया और दसियों बार पढ़े हुए तार को फिर पढ़ा, टाइप की हुई पतली सी चिट लगी थी, फौरन चले आओ, बाकी बातें यहां होगी । देशबन्धु । " देशबन्धु जी ने उसे क्यों बुलाया है ? साफ है, कोई नौकरी उनकी निगाह में आ गई है । लेकिन यह बात तो छः सात महीने पहले की है तभी उसने देशबन्धु जी को लिखा था कि मैंने एल॰एल॰बी॰ कर लिया है । आई॰ए॰एस॰ की तैयारी के लायक घर की हालत नहीं है, और वकालत की लाइन इतनी जलालत फरेब और धोखे से भरी हुई है कि उसमें जाने को आत्मा गवारा नहीं करती । वे साधन सम्पन्न व्यक्ति है, यदि कोई सम्मान और रुचि का काम बता सके तो वह विशेष कृतज्ञ होगा ·· ···· । " ।

अंग्रेजों ने अपनी सबसे आखिरी यातायात की समस्या का हल भी बड़े सहूलियत के साथ खोज निकाला । उन्होंने जिस रेलमार्ग का आविष्कार किया । वह भारत में औद्योगीकरण का अग्र प्रयास सिद्ध हुई । मार्क्स ने लिखा है - " वैसे भी जिस देश में लोहा और कोयला प्राप्त है, वहाँ के परिवहन यंत्र में मशीनों का इस्तेमाल शुरू हो जाने के बाद उस देश द्वारा खुद मशीनों के निर्माण को नहीं रोका जा सकता ···· इसलिए

1· उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ· 13·

रेलवे का प्रादुर्भाव भारत में आधुनिक उद्योगों के आगमन का पूर्व सूचक है ।" [1]

इतना कुछ होते हुए भी एक बार भारतीय जैसे ही अंग्रेजों की कूटनीतिक चालों से वाकिफ हो गए तो वे उनके हर कदम को शंका की दृष्टि से देखने लगे । रेलमार्ग के प्रादुर्भाव से भारत में भौगोलिक एकता के अवसर बढ़े फिर भी लोगों ने इसे अंग्रेजों का चाल समझा । जिसे भीष्म साहनी ने " मय्यादास की माड़ी " उदय के एक पात्र के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त कराया है --

" जहाँ-जहाँ से रेलगाड़ी गुजरेगी आस पास की जमीन जलकर राख हो जाएगी ...... कुछ लोगों को शक था कि फिरंगी जमीन पर कब्जा करने के लिए रेल की पटरी बिछा रहे हैं ।" [2]

इस प्रकार के शक को तूल देने का और एक कारण यह भी था कि भारतीय स्वच्छन्दतापूर्वक उस गाड़ी में सफर भी नहीं कर सकते थे, क्यों कि उसमें अंग्रेज ही विशेषकर अंग्रेजी पलटन ही सफर किया करती थी । गिरिराज किशोर के " जुगल बंदी " का बीरु रिजर्वेशन के साथ होते हुए भी ट्रेन में स्थान पाने में मुश्किल का सामना करता है । जिसे एक कुली के शब्दों में स्पष्ट सुना जा सकता है ---

---

1. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र - मार्क्स एंगेल्स - पृ. 25.

2. मय्यादास की माड़ी - भीष्म साहनी - पृ. 143.

" बापू अपने घर बैठे रहना अच्छा, पर इन पलटन के आदमियों के मुँह नहीं लगना चाहिए । गोली मार दे .... बराबर वाले सेकेण्डक्लास के डिब्बे की तरफ लपके ...... बोरू बाबू ने झुककर जोर से कहा, प्लीज एलाउ मी टु एण्टर इनसाइड ..... । वह काफी जोर से चिल्लाया, " यू ब्लडी ...... गो टु हेल ! " ।

हमारे अपने मातृभूमि में इतना कुछ होते हुए भी भारतीय अपने देश के भविष्य को उज्ज्वल बनाने हेतु अपने नेतृत्व में कोई उद्योग-धंधा शुरू नहीं कर पाए । अगर कुछ शुरू भी हुआ तो उसका विकास एक अनाथ, असुरक्षित बालक के समान बड़े मंदगति से हो रहा था । उत्पादन की शक्तियाँ जब पूर्णतः अविकसित अवस्था में भी तब जाकर भारत में पूँजीवाद का अभ्युदय हुआ । इतना ही नहीं यहाँ अर्द्धसामन्ती और प्राक्सामन्ती तत्वों के अवशेष भी बाकी थे । इस प्रकार के अन्तर्विरोधों से पूर्ण अवस्था में औद्योगीकरण की प्रक्रिया अपर्याप्त, असंतुलित और असमान धरातल पर विकसित हो रही थी । इस असमतल धरातल से भारत को ऊपर उठाने के लिए अर्थात् भारत को स्वतन्त्र करने के लिए उस वक्त एक-एक बच्चा आशावान है । अगर कोई भारतीय अंग्रेजों की नौकरी में है तो वह अपने मजबूरी को कोसता है । इसी स्थिति को अभिव्यक्त करते हुए गिरिराज किशोर के " जुगलबंदी " का दर्जी (एक पात्र) कह उठता है ---

---

1. जुगलबंदी - गिरिराज किशोर - पृ. 55.

"जेल से छूटने पर आदमी भी आजाद होता है न। जहाँ चाहता है जाता है, जो चाहता है, करता है। अंग्रेज की हुकूमत हमें बाँधे है। आजाद हो जाएँगे तो हम जैसे चाहेंगे, रहेंगे। अपने राज में कोई बाहर का कुछ नहीं कह सकेगा।" [1]

(ख) सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तथा मध्यवर्ग का उदय :-

यह पहले बताया जा चुका है कि किस प्रकार 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों के पाँव भारत में जम गए थे। भूमि-व्यवस्था के टूटने के साथ-साथ पर्दे पर से सामन्ती-मूल्य हटने लगें, औद्योगीकरण एवं व्यापार के उद्गम के साथ-साथ पूंजीवादी मूल्य मर्यादाएँ सामने आने लगी। पूंजीवाद एक आर्थिक व्यवस्था मात्र नहीं है, इसमें अन्तर्निहित है एक सामाजिक संरचना, एक पदानुक्रमिक सामाजिक सम्बन्ध जिसके अन्तर्गत सत्ताहीनों पर अधिकार जमाने वाले शक्ति सम्पन्न अल्प संख्यकों का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रहता है। इसमें एक राजनैतिक संरचना अन्तर्निहित है जो सामाजिक एवं आर्थिक स्तर पर निर्भरता को प्रतिबिम्बित करती है, अन्ततः यह संस्कृति एवं सभ्यता का एक संरूप है जिसमें मनुष्य बाजार आवश्यकताओं प्रतियोगिता एवं लाभ के द्वारा ढाले जाते है और उनके द्वारा नियोजित किए जाते हैं, जिनका पूंजी के संचार व्यवस्था के अधिकतम माध्यमों पर नियंत्रण रहता है।" [2]

---

1. जुगलबन्दी - गिरिराज किशोर - पृ. 171.
2. छायावाद का समाजशास्त्र से उद्धृत : शशि मुदिराज : पृ. : 104

इन सभी नवीनताओं के साथ सामाजिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन होना स्वाभाविक था । यही परिवर्तित जीवनकला आज भी देखी जा सकती है । पर यह परिवर्तन एक दिन या कुछ वर्षों का फल नहीं बल्कि इस परिवर्तन को कम से कम एक दो दशक का वक्त लगा । यह परिवर्तन सिर्फ जीवन के मूलवर्ती कुछ एहम् क्षेत्र जैसे शिक्षा, यातायात, भूमि, उद्योग इत्यादि में ही हुआ हो, जो कि जीवन के बाहरी पक्ष को ही अपने में समेटते है, ऐसा नहीं है बल्कि जीवन के छिट-पुट सम्बन्ध भी इससे प्रभावित हुए । जिससे भारतीय सामन्ती मूल्यों एवं अंग्रेजों की नीतियों के परिणाम स्वरूप विकसित होने वाले पूँजीवादी मूल्यों के बीच एक टकराव की स्थिति दिखाई देती है । दूसरे शब्दों में यदि कहे तो 19 वीं शताब्दी केवल दो समाज-व्यवस्थाओं के बीच टकराव का काल ही नहीं है अपितु वह दो जीवन मूल्यों के बीच टकराव का काल भी रहा है । कहना न होगा कि कालान्तर में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के धक्के से भारत की सामन्ती समाज व्यवस्था लगभग चरमरा सी गई । लेकिन दोनों जीवन मूल्यों के बीच टकराव की स्थिति एक लम्बे समय तक बनी रही । गौर तलब बात यह है कि आज भी आजादी के लगभग सैंतालीस साल बाद हम इस प्रक्रिया को घटित होता हुआ देखते है । राजेन्द्र यादव ने स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज में घटित होनेवाली इस प्रक्रिया को बड़ी ही बारीकी के साथ परखकर अपनी औपन्यासिक कृतियों के माध्यम से रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है ।

संयुक्त परिवार का विघटन सिर्फ इसलिए ही नहीं हुआ क्यों कि मूल्य-परिवर्तन के कारण हर किसी के व्यक्तित्व को पूर्णरूप से विकसित होने का मौका नहीं मिल पाया, जिससे वह मानसिक तनाव अनुभव कर रहा था,

बल्कि इसलिए भी कि नौकरी एवं रोजी-रोटी के कारण लोगों को शहर की ओर बढ़ना पड़ा । भगवती चरण वर्मा के " भूले-बिसरे चित्र " में तहसीलदार ज्वाला प्रसाद की पत्नी उसके साथ शहर इसलिए जाती है क्यों कि उसके पति की रोजी-रोटी शहर में ही थी । ठीक इसी प्रकार राजेन्द्र यादव के " उखड़े हुए लोग " का नायक शरद अपनी रोजी-रोटी के खोज में ही शहर जाता है । इस कारण भी संयुक्त परिवार टूटने लगे । वहीं " सारा-आकाश " का समर प्रोफेसरी प्राप्त कर अलग रहने की बात इसलिए सोचता है क्यों कि संयुक्त परिवार की कमजोरियाँ जो अब तक धर्म-सम्पत्ति के बलबूते पर बंद थी वही अब पैसे के अभाव में अपना विकराल रूप लेकर सामने आने लगीं । अब परिवार में जो ज्यादा से ज्यादा कमाने की शक्ति रखता था । उसी की परिवार में चलने लगी । इसी भेद-भाव की मंशा ने एक ही परिवार के लोगों में मन-मुटाव पैदा कर दिया । इस वातावरण में परिवार के छोटे सदस्यों को अपने व्यक्तित्व को पूर्णरूप से विकसित करने के अधिकार से भी वंचित रखा जाने लगा । समर जहाँ पढ़ लिख कर कुछ करना चाहता है, वहीं बेरोजगार होने के कारण जिस प्रकार की जिल्लत भरी जिन्दगी इसे और उसकी पत्नी को जीनी पड़ती है उससे ऊबकर उसे पढ़ाई के साथ-साथ नौकरी भी करनी पड़ती है ।

संयुक्त परिवार का सम्बन्ध मुख्य रूप से विवाह से है । उसके विघटन का कारण बहुत ही कम जगहों में कुंवारा बेटा रहा है जबकि अधिकतर जगहों में विवाहित पुत्र ही अलग होना चाहता है । विवाह को सामन्तीयुग में सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था । साथ ही साथ विवाह के कुछ बंधे-बंधाए नियम ही बना दिए गए थे जिसे

मनुष्य के जीवन का अंग कहना शायद गलती नहीं होगी । इन नियमों का सम्बन्ध भी अधिकतर जाति-पांति एवं पारम्परिक रीति-रिवाजों से रहा है । इस प्रकार के दकियानूसी विचारों से उच्चवर्गीय शिक्षित लोग भी प्रभावित थे । जैसे कि "गुनाहों के देवता" के डा॰शुक्ला चन्दर से कहते हैं कि -- " .... शादी में सबसे बड़ी बात होती है सांस्कृतिक समानता और जब अलग-अलग जाति में अलग-अलग रीति रिवाजे हैं तो एक जाति की लड़की दूसरी जाति में जाकर कभी भी अपने को ठीक से सन्तुलित नहीं कर सकती । .... । यह तो सामाजिक व्यवस्था को व्यर्थ के लिए असन्तुलित करना हुआ ।"[1]

परन्तु डॉ॰शुक्ला को अपने विचारों को तब बदलना पड़ता है जब उनकी एकलौती बेटी सुधा अपने जाति-वर्ग के लड़के से विवाह कर सुखी नहीं हो पाती । तभी डॉ॰शुक्ला कह उठते हैं कि "चन्दर, इस महीने-भर में मेरा सारा विश्वास हिल गया । सुधा का विवाह कितनी अच्छी जगह किया गया, मगर सुधा पीली गई है । कितना दुख हुआ देखकर और विनती के साथ यह हुआ । यह सचमुच जाति, विवाह, सभी परम्पराएँ बहुत ही बुरी है । बुरी तरह सड़ गई है । उन्हें तो काट फेंकना चाहिए । मेरा तो वैसे इस अनुभव के बाद सारा आदर्श ही बदल गया ।"[2]

---

1. गुनाहों का देवता - धर्मवीर भारती - पृ॰ 52.
2. - वही - पृ॰ 251.

पर परिवर्तित स्थिति में स्त्री का स्थान समाज में बदल गया है । वह कहीं-कहीं तो समाज में पुरुष की स्थिति को ऊपर उठाने में भी सक्षम है । इस स्थिति को कमलेश्वर ने "काली आंधी " में मालती के माध्यम से दिखाया है जो अपने पति से कहती है ---

" आप यह होटल बंद कर दीजिए । "
" लेकिन क्यों ? " जग्गी बाबू चीखे थे ।
" फिर मैं करूँगा क्या ? "
" क्यों मेरे साथ मेरे काम में हाथ नहीं बटा सकते ? ....
आप दस कमेटियों के मेम्बर हो सकते है .... गैर लोग मुझसे फायदा उठा सकते हैं पर आपके लिए मैं किसी लायक नहीं ? "

इसी प्रकार के मन-मुटाव से पूर्ण स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, विवाह इत्यादि से गुजरकर सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन आया वहीं परिवर्तित समाज में एक नए वर्ग को भी जन्म दिया । जिसे आज हम " मध्य वर्ग " के रूप में पाते है । इन्हीं स्थितियों को " सामाजिक संतरण " कहा जाता है । जिन्होंने " मध्यवर्ग " को जन्म दिया । भारतीय समाज में समस्त हलचलों और परिवर्तनों का केन्द्र " मध्य वर्ग " ही रहा है । रूसी क्रान्ति के सूत्रधार एवं महान विचारक कार्ल मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की भावना को एक वैज्ञानिक रूप देते हुए समाज के लोगों को तीन वर्गों में बांटा है --

1• शोषक वर्ग

2• प्रोलितेरियत वर्ग और

3• इन दोनों के मध्य 'मध्यवर्ग' या 'पेटो बुर्जुआ' था ।

पूँजोवादो व्यवस्था में मनुष्य को योग्यता का एक " पण्यवस्तु " या Commodity बनकर रह जातो है, क्यों कि बुर्जुआ या शोषक वर्ग के पास पूँजो है । अपने पूँजो के बल पर वह हर किसी को योग्यता को खरोदने में सक्षम रहता है । इसोलिए मार्क्स ने कहा है कि --

"The wealth of those societies in which the Capitalist mode of production prevails presents itself as an immense accumulation of commodities."[1]

<u>हिन्दो अनुवाद</u>

" पूँजोवादो व्यवस्था के अन्तर्गत मानवोय प्रेम, नैतिक जोवन-मूल्य, धर्म आदि सभी केवल नकद भुगतान के नियम पर टिके हुए हैं, परिणाम स्वरूप व्यक्ति को वैयक्तिक योग्यता इस व्यवस्था के अन्तर्गत विनिमय मूल्य में बदल जातो है और वहो सामाज-सम्पन्न माना जाता है जो पण्य-वस्तुओं का अपरिमित संचय करता है ।"

---

1. Karl-Marx: Capital : Pg 35

परिणाम यह निकलता है कि " जिन पेशों के सम्बन्ध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सबका प्रभामण्डल पूँजीपति वर्ग छीन लेता है। वकील डाक्टर, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक सभी को वह अपना वेतनभोगी मजदूर बना देता है।" [1]

योग्यता जिसे पण्य वस्तु कहा गया है वह श्रमिक वर्ग का निजी गुण है। श्रमिक वर्ग का सम्बन्ध मुख्य रूप से सर्वहारा या हमारे समाज में "निम्नवर्ग" कहा जाता है -- से है। श्रमिक के पास श्रम है, पूँजीपति के पास पूँजी है। इसीलिए पूंजीपति वर्ग इस श्रमिक वर्ग के श्रम पर पलता है क्योंकि इसके श्रम से उत्पन्न वस्तुओं से ही वह मुनाफा कमाता है एवं वह मालिक के आसन पर आसीन भी होता है। इसी संदर्भ में ऐरिक फ्राम का कहना है कि --

" पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का एक और पक्ष यह भी है कि तमाम आर्थिक गतिविधियों का एकमात्र लक्ष्य है, मुनाफा .... अर्थात् उत्पादन का " अर्थ है खर्च से अधिक लाभ।" [2]

---

1. मार्क्स एवं एंगेल्स - " कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र से सदृधृत।"
2. Enrich Fromm: The Sane Society: Pg. 85

इसी पूँजीपति एवं सर्वहारा वर्ग के बीच मध्यवर्ग सामने आता है जो कि वास्तव में पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था की ही निर्मिती है। जहाँ निम्न वर्ग के पास शारीरिक श्रम की क्षमता है। वहीं यह मध्य वर्गीय इसलिए है क्योंकि इसके पास बौद्धिक श्रम की क्षमता है -- जबकि इसके पास पूँजी भी नहीं है। भारत में मध्यवर्ग के उदय के कारण पर विचार करते हुए डा॰सियाराम शरण प्रसाद ने लिखा है कि --

" राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था तथा राजकोय प्रणाली का आवश्यक परिणाम था कि एक ऐसे वर्ग का निर्माण हो जो शासन-व्यवस्था तथा व्यापार कार्य सुचारु रूप से चला सके। यह कार्य मध्यम-वर्ग ने किया। अंग्रेजी शिक्षा ने इस वर्ग का निर्माण किया वैज्ञानिक तथा पाश्चात्य शिक्षा के कारण नए पेशों का जन्म हुआ। अतः विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे वर्गों का जन्म हुआ जो न शारीरिक परिश्रम करते थे और न जिनके हाथ में उत्पादन के साधन थे तथा न श्रमिकों की तरह सम्पत्तिहीन, वह भी मध्यवर्ग के अन्तर्गत आते है। बीच की स्थिति के कारण मध्यम वर्ग सम्भवतः अनेक सामाजिक स्तरों में विभाजित है तथा उसमें एकरूपता नहीं।"[1]

---

1. हिन्दी उपन्यास का समाजशास्त्रीय अध्ययन - डॉ॰सियाराम शरण प्रसाद - पृ॰ 327॰

यह मध्यवर्गीय जहाँ एक तरफ बौद्धिक श्रम को शारीरिक श्रम से ऊपर समझता है वहीं दूसरी ओर अपने बौद्धिक श्रम के माध्यम से पूँजीपति को शोषण करने में भी मदद करता है । जैसे कि कारखाने का मालिक अपनी मजदूरों से प्रत्यक्ष बातें नहीं करेगा । बल्कि अपने फैक्ट्री-मैनेजर रूपी तनख्वाह प्राप्त नौकरशाह के जरिए अपनी मांगे मनवाएगा । इस प्रकार वह पूँजीपति का मोहरा मात्र है । पर यह मध्यवर्ग अपने को मोहरा नहीं बल्कि अपने को सफेद पोश (white callered) समझ कर अपने को भी किसी न किसी रूप में पूँजीपति वर्ग से जोड़ना चाहता है । जबकि यह उसका बहुत बड़ा भ्रम है । जिसे मार्क्स तोड़ना चाहते थे । वह मध्यवर्ग को यह समझाना चाहते थे कि उनका निकटत्तम वर्ग निम्नवर्ग है, पूँजीपति वर्ग नहीं, क्यों कि वह स्वयं परजीवी (Parasite) है । वह निम्न वर्गीयों के समान ही अपनी छोटी-छोटी इच्छा आकांक्षाओं के लिए दूसरों पर निर्भर है । इसी कारण मध्यवर्गीय क्षुद्र मनोवृत्ति का पालक बन गया है । इसी मनोवृत्ति के तहत वह सर्वदा अपने को असुरक्षित महसूस करता है । इस असुरक्षा की भावना से उबरने एवं कम से कम सुरक्षित महसूस करने के लिए अपनी बुद्धि से नाना प्रकार के तिकड़मभरे सूत्र इजात करता है । ताकि वह स्वयं एवं समाज में इस भ्रम को बनाए रखे कि वह उच्चवर्गीय है । पर वह यह भूल जाता है कि जिस असुरक्षा की भावना ने उसे बुद्धिमान बना दिया है, उसी बुद्धि का अगर वह निम्नवर्ग की मुक्ति के लिए उपयोग करे तो परोक्ष रूप से स्वयं वह भी मुक्त हो जाएगा ।

पूँजीवाद हमारे सामान्य जीवन (civil life)को भी आतंकित करता हुआ दिखाई पड़ता है । जैसे --

1. उपभोक्ता संस्कृति को जन्म देता है । पूँजीवादी व्यवस्था में गांवों तक में जहाँ पीने का स्वच्छ जल नहीं है । वहाँ भी विभिन्न कम्पनियों द्वारा निर्मित सीलबंद बोतल में पेय पदार्थ पहुँच गए है । व्यक्ति अगर इसे खरीदने में अक्षम हैं तो इसे खरीदने की क्षमता प्राप्त करने के लिए पूरजोर कोशिश करेगा । पहले गांव में गर्मियों में गर्मी सहकर, सुराही का पानी पीकर लोग जीते थे पर आज वहाँ भी फ्रिज एवं कूलर देखे जा सकते है । आज पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफे को बनाए रखने के लिए सामान्य लोगों के स्तर पर उतरकर उसकी क्षमता के अनुकूल उत्पादन करता है । जहाँ वह उपभोक्ता संस्कृति के माध्यम से अपने मुनाफे को बनाए रखना चाहता है । वहीं सामान्य जनता इनकी चालों से प्रभावित हो इतनी उतावली दिख पड़ती है मानों वह इस उपभोक्ता संस्कृति को वरदान मानकर उसकी जड़े मजबूत करना चाहती हों ।

2. सामाजिक-आर्थिक वैषम्य के कारण लूट-पाट, आतंक इत्यादि पूँजीवाद की देन है । लोग आज समाज में आर्थिक स्तर पर दो वर्ग के बीच एक बड़ी खाई पाते है । जिसे हर कोई इंसान जल्दी से जल्दी आसानी से पाटना चाहता है । जिसके फलस्वरुप वह दंगा-फसाद, लूट-मार इत्यादि में सक्रिय भाग लेने लगता है । इस प्रकार के समाजविरोधी गतिविधियों(Anti-Social Activities) का कारण भी पूँजीपति ही है ।

इतना कुछ होने के बावजूद पूँजीपति स्वयं भी सुरक्षित नहीं है । जहाँ मध्य एवं निम्न वर्ग के लिए असुरक्षा की भावना सहज बन गई है, पूँजीपतियों की स्थिति भी किसी भी हालत में इनसे बेहतर नहीं है । वह हर पल किसी न किसी को शोषित करके ही अपनी स्थिति बनाए रखता है । ऐसी हालत में उसके शत्रुओं का दायरा भी बढ़ जाता है । कभी-कभी तो वह अपने जान को भी खतरा महसूस करता है ।

पर यह मध्यवर्ग बुद्धिमान होने के साथ-साथ परिस्थिति वश चालाक भी होता है । वह भली-भाँति जानता है कि जब भी शोषक शोषित वर्ग के बीच संघर्ष होगा तो उसे सत्ताधारी वर्ग से ही फायदा होगा । वह इस संघर्ष के दौरान भी अपने फायदे को पकड़े रहता है । अन्त तक एक बिन पेंदे के लोटे की स्थिति में बने रहता है, क्योंकि संघर्ष से पूर्व वह बेशक शोषक वर्ग (शायद संघर्ष से पूर्व सत्ताधारी था) का पक्षधर रहा हो अगर वह संघर्ष के अन्त में शोषित वर्ग को सत्ता में आता हुआ पाता है तो जोरशोर से उसी की वकालत शुरू कर देता है ।

स्वतन्त्रतापूर्व यही मध्यवर्ग आदर्शों का कायल दिखाई पड़ता था । इस आदर्शवादी रूप में कहीं भी स्वार्थ का अंश दिखाई नहीं पढ़ा । जिस कारण उसने बड़ी सफलतापूर्वक सामाजिक स्थिति को बदलने का बीड़ा उठाया । उसके जीवनमूल्य उसके नैतिक उत्थान के द्योतक थे । किन्तु 20 वीं शताब्दी के दौरान जिस प्रकार पूँजीवादी जीवनमूल्य भारतीय मानस को आक्रान्त कर रहे थे । उससे इस मध्यवर्ग के जीवनमूल्य प्रभावित

हुए बिना नहीं रह पाए । 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस मध्य - वर्गीय उँम आदर्श की प्रतिध्वनि हमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा रचित " सत्य हरिश्चन्द्र " नाटक में इस प्रकार सुनाई पड़ती है ---

" बेचि देह दारा सुअन होइ दासहू मन्द ।
रखि है निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचन्द ।। "[1]

कहना न होगा कि 20 वीं शताब्दी में आगे चलकर इस मध्यवर्ग में दो तबके पैदा होते है । पहला तबका हरिश्चन्द्र की तरह आदर्शवादी है जो प्रेमचन्द की " नमक का दारोगा " कहानी में मुंशी वंशीधर के रुप में चित्रित हुआ । पर उस समय तक मध्यवर्ग के भीतर ही एक दूसरा तबका भी पैदा हो चुका था, जो तमाम आदर्शों से च्यूत ही नहीं अपितु बड़ी ही निच मनोवृत्ति वाला था । जो कि इसी कहानी में वंशीधर के पिता के रुप में व्यक्त होता देखा जा सकता है जब वह मुंशी वंशीधर को उपदेश देता हुआ कहता है कि " मुंशी वंशीधर भी जुलेखा की विरह कथा समाप्त करके मजनू और फरहाद के ....
उनके पिता एक अनुभवी पुरुष थे । समझाने लगे, बेटा ! घर की दुर्दशा देख रहे हो । .... । नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मजार है । निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए । ऐसा काम ढूँढ़ना जहाँ कुछ उपरी आय हो ।

---

1. सत्यहरिश्चन्द्र : भारतेन्दु ग्रंथावली - पृ. 271.

मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चांद है, जो एक दिन दिखाई देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है । ऊपरी आय बहता हुआ स्त्रोत है, जिससे सदैव प्यास बुझती है । वेतन मनुष्य देता है, इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती । ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, इसी से उसकी बरकत होती है, तुम स्वयं विद्वान हो, तुम्हें क्या समझाऊँ । इस विषय में विवेक की बड़ी आवश्यकता है । मनुष्य को देखो, उसकी आवश्यकता को देखो और अवसर देखो, उसके उपरान्त जो उचित समझो, करो । गरजवाले आदमी के साथ कठोरता करने में लाभ ही लाभ है । लेकिन बेगरज को दाँव पर पाना जरा कठिन है । इन बातों को निगाह में बाँध लो । यह मेरी जन्म भर की कमाई है ।"[1]

ऐसो ही एक चित्र शिवमूर्ति ने अपने लघु उपन्यास " भरत - नाट्यम् " में भी प्रस्तुत किया है । जहाँ उपन्यास का नायक ज्ञान स्कूल की नौकरी इसलिए छोड़ आता है क्यों कि स्कूल का प्रिंसिपल घूसखोर है जो कि गुरुदक्षिणा के नाम पर छात्रों से पैसे वसूल करता है और जो छात्र गुरुदक्षिणा नहीं देते उन्हें फेल कर देता है । इसके खिलाफ आवाज उठाने पर ज्ञान पर ही झूठा इलजाम लगाया जाता है । जिससे आदर्शवादी ज्ञान नौकरी से इस्तीफा दे देता है । जब पिता को इसके इस्तीफा देने की खबर मिलती है तो वह उठते है --

" साला लाट साहब बनना चाहता है ।" [2]

1· प्रतिनिधि कहानियाँ - प्रेमचन्द - पृ· 48·

2· भरतनाट्यम् - शिवमूर्ति - पृ· 194·

पिता बेटे के आदर्शवाद को दाद दिए बिना गाली देते है । इसी प्रकार जब ज्ञान गवर्मेंट की नौकरी में भी बेइन्साफी के खिलाफ आवाज़ उठाते हुए निकाला जाता है तो पिता फिर पुत्र को ही कोसते है । मेहस, साला । आवारा, लोफर। जोरू के बगैर .... ।"[1]

ज्ञान को " आदर्शवाद " के चलते जीवन में बहुत नीचा दिखाना पड़ा था । जिस कारण वह कह उठता है कि " आदर्शवाद " के चलते जीवन के हर क्षेत्र में " मिसफिट " होता रहा हूँ । अब जाकर अक्ल आयी है रास्ते पर मैं पैर की ठोकर मारकर सारे आदर्शवाद को चूर-चूर कर देना चाहता हूँ ।"[2] जाहिर है कि कालान्तर में मध्यवर्ग के भीतर यह दूसरा तबका ही ज्यादा प्रबल होता गया । जहाँ पहले मध्यवर्ग अपनी नैतिक मूल्यों की रक्षा हेतु सर्वस्व त्याग देने को तत्पर था । आज वही इसी नैतिकता की आड़ में वह अपना उल्लू सीधा करने में लगा हुआ है । इतना ही नहीं इसका अधिक ध्यान केवल भौतिक सुख-सुविधाओं को जुटाने की ओर है ।

कुल मिलाकर हम कह सकते है कि मध्यवर्ग का उदय आधुनिक औद्योगिकरण की प्रक्रिया, नगरीकरण का भी कारण है । यह मध्यवर्ग नागरिक जीवन से पूर्णतः जुड़ने में अक्षम है । परिणाम स्वरूप वह एक द्वन्द्व की स्थिति में रहता है तथा उसका मनोविज्ञान जटिल हो जाता है । इस प्रकार के मनोविज्ञान के विकास का एक दूसरा कारण मध्यवर्ग आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त होकर सजगता और बौद्धिकता की दृष्टि से समृद्ध रहा । इस परिस्थिति में वह और घुटन अनुभव करने लगा है । इन्हीं मानसिक तनावों के

---

1. भरत नाट्यम - त्रिमूर्ति - पृ॰ 200॰
2. - वही - पृ॰ 202॰

कारण आज मध्यवर्ग अनेक स्तरों में विभक्त हो गया और उसका अपना कोई मूल्य-मानदण्ड नहीं बन पाया । उसकी इस दुविधाजनक मन:स्थिति के कारण ही क्रिस्टोफर कोड्वेल जैसे विद्वान ने मध्यवर्ग को कमीना वर्ग कहा ।

समाजशास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो वर्ग संख्या की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ अन्य वर्गों की तुलना में जागरूक रहता है, वह समाज पर हावी हो जाता है और उस शासन व्यवस्था एवं समाज-व्यवस्था उसी के अनुरूप बनती है । वर्तमान भारतीय समाज में संस्था की दृष्टि से मध्यवर्ग को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । वह आधुनिक भारत का सबसे जागृत वर्ग है । यह भी ध्यातव्य है कि भारत के अधिकांश लेखक मध्यवर्गीय हैं । अतएव हम स्वाभाविक रूप में उनके सामाजिक जीवन की यह दशा उनके क्षुब्ध मनोभाव उनके दर्द का स्पंदन, कुण्ठा, अनास्था घुटन, संकट बोध सामाजिक उपन्यासों में अत्यधिक विस्तार से चित्रित होता हुआ पाते हैं । इस संदर्भ में जिन उपन्यासकारों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं उनमें राजेन्द्र यादव, यशपाल, रांगेय राघव इत्यादि का नाम अग्रगण्य है । राजेन्द्र यादव के पूर्व पुरानी पीढ़ी के यशपाल, भगवती चरण वर्मा, नागर तथा उनके समकालीनों में गिरिराज किशोर, कमलेश्वर, सुरेन्द्र वर्मा, आदि शामिल हैं ।

2· (ग) पूंजीवादी जीवनमूल्य एवं मानवीय सम्बन्धों में दरार :-

पूंजीवादी जीवनमूल्य अर्थ पर आधारित है । इस व्यवस्था में मानवीय सम्बन्ध भी केवल आर्थिक सम्बन्ध बन कर रह जाते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि "प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, त्याग अपने मानवीय भाव सभी धन की कसौटी पर कसे जाते हैं । "पूंजीवाद" के साथ जहाँ "मुनाफा" शब्द जुड़ जाता है, इस "मुनाफे" की सीमा सिर्फ व्यवसाय से प्राप्त मुनाफे तक ही सीमित नहीं है बल्कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से दोस्ती का रिश्ता भी तभी बढ़ाता है जबकि उसकी सोच में इस रिश्ते से उसका कोई "मुनाफा" हो । यानि मानवीय उस रिश्ते को पूंजीवाद ने केवल "उपयोगिता" एवं "मुनाफे" से आच्छादित कर दिया है । पूंजीवादी व्यवस्था की इसी प्रवृत्ति की कटु आलोचना मार्क्स करते हुए लिखते हैं कि "पूंजीपति वर्ग ने, जहाँ पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहाँ सभी सामन्ती पितृसत्तात्मक और "काव्यात्मक" सम्बन्धों का अन्त कर दिया । उसने मनुष्य को अपने "स्वाभाविक बड़ों" के साथ बांध रखनेवाले नाना प्रकार के सामन्ती सम्बन्धों को निर्ममता से तोड़ डाला और नग्न स्वार्थ के नकद पैसे कौड़ी के हृदयशून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच कोई दूसरा सम्बन्ध बाकी नहीं रहने दिया । धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम, आनन्दातिरेक को, विरोचित उत्साह और कूपमण्डू-कतापूर्ण भावुकता को उसने आना पाई के स्वार्थी हिसाब के बर्फीले पानी से डुबो दिया है । - - - - - - - - - - - - ।

पूंजीपति वर्ग ने पारिवारिक सम्बन्धों के ऊपर से भावुकता का पर्दा उतार फेंका है और पारिवारिक सम्बन्ध को केवल द्रव्य के सम्बन्ध में बदल डाला है ।"[1] इन्हीं स्थितियों के कारण हमारे समस्त कला रूप मानवीय सम्बन्धों के अमानवीकरण को प्रकट करने लगते हैं और प्रेम की अप्राप्ति की कुण्ठाओं, हिंसाओं और पलायन के रूप में प्रकट करते हैं। इस दर्दनाक स्थिति का वर्णन रोज़र गेराउन्डी ने बड़े सफलतापूर्वक किया है --

" जब संस्कृति के मूल्य व्यावसायिक हो जाते हैं, तब वे बिकाऊ वस्तु बन जाते हैं और पूंजीवादी समाज के परायीकृत सामाजिक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने लगते हैं । यही प्रेम या संस्कृति में उद्भुत निराशाओं को हिंसा या पलायन के द्वारा क्षतिपूर्ति करने की आवश्यकता का कारण है । ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गेन्गस्टर, फिल्में, कास्टेटाइन जेम्स बॉण्ड तक के कानून बाह्य सुपरमैन, अश्लीलचित्र, दवाइयाँ और उत्तेजक माध्यम, गायक एवं फिल्म तथा दूरदर्शन के सितारें सामने आते हैं, जिनको उसी विज्ञापन तकनीकों से लाया जाता है जो गन्धहो (Gangster) के साथ सेक्स अपील के बाजार को पैदा करते है ।"[2]

1· मार्क्स एवं एंगेल्स - कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र से - पृ· - 39·

2· Roger Garaudier - The Alternative Future Pg 46

(पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में जो स्वार्थपूर्ण पैसे से आच्छादित मानवीय सम्बन्ध बने) उससे रचनाकार अछूता रहे, यह असम्भव है। राजेन्द्र यादव ने भी अपने उपन्यासों में जहाँ भी मौका मिला हो वहीं एक दरारपूर्ण मानवीय सम्बन्ध को दर्शाने का प्रयत्न किया है, जिसका कि मूल कारण ही अर्थ रहा है।

भारतीय स्वभाव से भावुक हैं। जिस कारण सृष्टि के आदिकाल से पारिवारिक जीवन को वे अत्यन्त महत्त्व देते रहे हैं, जहाँ कि किसी भी प्रकार के मन-मुटाव को गले से उतारना उसके लिए असम्भव था वहीं आज परिवार ही वह स्थल है जहाँ हर प्रकार की दरार पैदा होती और कालान्तर में विकराल रूप धारण करती है। (पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में मानवीय सम्बन्ध प्रेम, श्रद्धा और दया पर केन्द्रित न होकर अर्थ केन्द्रित सम्बन्ध होता है। जहाँ भाई-भाई, भाई-बहन का रिश्ता तो बहुत दूर की बात है यहाँ तो जन्म देने वाले माता-पिता एवं सन्तानों के बीच ही अर्थ के कारण एक विशाल खाई देखी जा सकती है।)

राजेन्द्र यादव के सारा-आकाश में पिता, समर का विवाह, बेटे को विवाह से प्राप्त होने वाले सुखों के लिए नहीं बल्कि अपने आर्थिक फायदे के लिए करते हैं, क्यों कि उनको बेटी के विवाह में काफी कर्ज़ चढ़ जाने के कारण, बेटे के विवाह के दहेज से पहले के कर्ज़ को उतारना चाहते हैं। अपने फायदे की चिन्ता में यह पिता इस हद तक मशगूल है कि उसे बेटे की इच्छाओं की ओर ध्यान देना भी गवारा नहीं है। राजेन्द्र यादव ने बाप और बेटे दोनों की मन:-स्थिति को इस प्रकार प्रकट किया है ---

" बापूजी सुनाते, इस मुन्नी के ब्याह में सात आठ हजार कर्जा हो गया है । अब ये लड़के ही कुछ करें तो हो, मेरे तो बस का है नहीं ।" 1

" अपना सुख, अपना स्वार्थ, अपना संतोष बस यही हमारे घर की रीति है । दूसरा मरे, जिये उनकी बला से । न दूसरे की इच्छा है, न जान । - - - - - - - - हाय ! मेरी वे सारी महत्वाकांक्षाएँ, कुछ बनकर दिखलाने के सपने, अब यों ही घुट-घुटकर मर जाएँगे, रात-रात भर की नींद और खून दे देकर पाले हुए वे सारे भविष्य के सपने अब दम तोड़ देंगे ।" 2

यही महत्वाकांक्षी समर अपने भविष्य की चिन्ता के साथ-साथ नौकरी करने को बाध्य होता है क्योंकि उसके पास पैसे के अभाव में अपने ही माता-पिता के मुख से ताने सुनने पड़ते है और उसे और उसकी पत्नी को एक जिल्लत भरी जिन्दगी मिलती है । माता-पिता के स्वार्थी स्वभाव से बेटे का मन उचट जाना स्वाभाविक है । जिस कारण वह अलग होने को भी तत्पर रहता है । जैसे कि समर और प्रभा ।

---

1. सारा आकाश - राजेन्द्र यादव - पृ. 20.

2. - वही -

ऐसी ही कुछ स्थिति शिवमूर्ति के लघु उपन्यास " भरतनाट्यम् के ज्ञान की भी है । जब वह ग्रामेण्ट की नौकरी छोड़ आता है तब उसकी स्थिति इस प्रकार की हैं --

" पाँचे दिन ही मैं घर, पड़ोस और पूरे गाँव की नजरों में नालायक हो गया - - - - - - जब जितना चाहे दूध पी सकते हैं । मेरी बच्चियों को खाना खाते समय जो मिल गया सो मिल गया । - - पिताजी को अच्छी तरह पता है कि मुझे न तो दूध मिलता है और न आगे मिलेगा । उनकी हिदायत इसलिए नहीं है कि कहीं कोई भूले से मुझे दूध दे ही न बैठे । वे तो सीधे सीधे एक सीमा रेखा खींचे रहें है कि देख, यद्यपि तू मुफ्त से नालायक और फालतू माना जा चुका है । फिर भी तुझे आए दिन तेरी नालायकी की याद दिलाना इस घर का फर्ज है - - - - - - दूध तो मात्र प्रतीक हैं ।[1]

जहाँ राजेन्द्र यादव के समर एवं प्रभा में तथा शिव मूर्ति के ज्ञान एवं परिवार में साम्य है । वहीं एक बात गौर करने योग्य है कि राजेन्द्र यादव की प्रभा शिक्षित होकर भी कष्ट उठाकर सब कुछ सहकर पति का विश्वास जीतती है । कहना न होगा कि उसमें एक सन्तुलन है जो कि शिवमूर्ति के ज्ञान की पत्नी में जरा कम दिखाई देता है, जिस कारण वह एक दर्जी के साथ भाग जाती है । कहना न होगा कि

---

1. भरतनाट्यम् - शिवमूर्ति - (पाँच सपने " उपन्यास संग्रह में संकलित) - पृ. 183 - 184.

शिवमूर्ति की कथा नायिका की इस अस्वाभाविक आचरण के मूल में पारिवारिक अमानवीय स्थितियाँ बहुत हद तक विद्यमान है । सम्भवत: इसी तथ्य को मद्दे नज़र रखकर गजानन माधव मुक्ति बोध ने एक स्थान पर लिखा है कि " घर में, परिवार में, समाज में मनुष्य के मूल्य को न आंका जाए । मनुष्य अपनी और अपने परिवार की अस्तित्व रक्षा के आर्थिक-भौतिक संघर्ष और तद् सम्बन्धी चिन्ताओं से छूटकर, निर्माण और सृजन कार्य में लगकर समाज की उन्नति और प्रगति में योग दे, तथा उसको अपने निजत्व के विकास के अवसर प्राप्त हो सबको समान रूप से आर्थिक उत्पीड़न और शोषण मुक्त या जो भयानक पूँजीवादी समाज-व्यवस्था है वह होने के लिए समाप्त हो । " 1

" उखड़े हुए लोग " राजेन्द्र यादव की प्रसिद्ध औपन्यासिक कृति है । इसका शीर्षक ही अप्रत्यक्ष रूप से पूँजीवादी जीवन मूल्य यानि अर्थ केन्द्रित जीवनमूल्य की ओर इंगित करता हुआ प्रतीत होता है । जहाँ लोग अपने जमीन से उखड़े हुए हैं, इस उखड़ने का कारण भी अपने जमीन से रोजी रोटी के साधन की अप्राप्ति है । जिस कारण नायक शरद शहर की ओर देशबन्धुजी के बुलाने मात्र से आने को बाध्य होता है । शरद को देशबन्धुजी अपने ही अखबार के डिपार्टमेण्ट में नौकरी लगाने के बावजूद वह तनख्वाह कितनी मिलेगी की चिन्ता में पड़ जाता है और बात बात में देशबन्धु जी से अपनी तनख्वाह और जया की नौकरी के बारे में ही जिक्र करता रहता है । " वह्यूरिया जी जिक्र तो कर रहे थे,

1. मुक्तिबोध रचनावली - भाग-5, पृ. 255.

जल्दी हो जाता तो अच्छा था । एकदम नई-नई गृहस्थी है, खर्चा-सम्भल जाता । वैसे अब भी कभी-कभी बड़ी दिक्कत पड़ जाती है । आने जाने और हर चीज़ जमा करने में काफी खर्चा पड़ जाता है न ।" शरद ने बड़ी कठिनाई से चिन्तित स्वर में पीछे छूटती स्वदेश महल की बाउण्ड्री को देखते हुए आखिर वह ही डाला । - - - - - पैसों की बात को इस प्रकार उड़ा जाने और न सुनने पर शरद मन ही मन देश-बन्धुओं पर झुंझला रहा था, - - - - - " ।

आगे " उखड़े हुए लोग " को " उखड़े हुए ", " शरद " के समान ही स्थिति कुछ " एक इंच मुस कान " के " अमर " की भी है । यहाँ " पैसे " के अभाव में अमर का मन भारत छोड़ने को हो गया है । किसी विदेशी " स्कॉलर शिप " के चक्कर में वह तीन-तीन इन्टरव्यूह देने के लिए भारत के कई हिस्सों में घूमने को भी राजी है ।

" लेकिन मैं तो घूमने नहीं आया । एक स्कॉलरशिप के लिए कोशिश कर रहा हूँ । उसका पहला इण्टरव्यू यहाँ है ।"

" पहला इण्टरव्यू " कैलाश ने विस्मय विनोद से कहा, " यानि कई इन्टरव्यू होंगे ।"

---

1. उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव - पृ. 282.

" कम से कम तीन तो होंगें । एक बात चीत, बोलचाल का होता हैं । एक जनरल नॉलेज का लिखित होता हैं, फिर एक अपने विषय का । - - - - - - - - - - - - - यहाँ से सीधे बम्बई जाना हैं । आखिरी इण्टरव्यू दिल्ली होगा । फिर पास पोर्ट की भाग-दौड़ शुरू होगी । "[1]

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि पूँजीवादी अर्थ केन्द्रित जीवन मूल्य में " अर्थ " का स्थान इतना महत्वपूर्ण हैं कि " सारा आकाश " में समर अपने परिवार से अलग होने को तैयार है । " उखड़े हुए लोग " का शरद अपनी भूमि से उखड़कर दूसरी जगह पैसा कमाने के उद्देश्य से गया है और अन्त में " एक इंच मुसकान " का अमर अपनी मातृभूमि भारत से ही उखड़कर विदेश जाने को तत्पर है । यहाँ गौरतलब बात यह है कि पूँजी (पैसे) ने किसी को भी शान्ति नहीं दी है । यहाँ हर एक शक्स चेहरे पर तनाव के भाव लिए हुए है । अब तक सिर्फ एक ही व्यक्ति की दृष्टि से हमने सम्पूर्ण स्थिति को देखने का प्रयत्न किया है । पर जैसे ही एक व्यक्ति जीवन में दूसरा विशेषकर कोई स्त्री आकर जुड़ती है तो इस पूँजीवादी जीवनमूल्य के तहत इस सम्बन्ध में कितने सुखद अनुभव और कितने दुखद अनुभव अर्थात् दरार आते हैं, को देखना " अत्यन्त आवश्यक हो जाता है । पहले ही विद्वानों ने नारी के विषय में यह धारणा खड़ी कर दी है कि
There is always a women behind the Success and Failure of a man.

---

1. उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 33.

वहो दूसरो ओर राजेन्द्र यादव के " उखड़े हुए लोग " के सूरज जो को धारणा नारो के प्रति कुछ इस प्रकार है --

" औरत जब दिमाग पर छा जातो है तब यहो होता है,------- नारो नारो बड़ो डॉमोनेटिंग होतो है, बड़ो कूअल इसके सम्पर्क में आने पर आदमो को बरबादो को कोई रोक नहों सकता, और इसके सम्पर्क से वंचित आदमो सड़ जाता है और विकास नहों कर सकता कर हो नहों पाता ।"[1]

आज जहाँ नारो के व्यक्तित्व को इतना जटिल चित्रित किया गया है वहों पुरुष भी अधिक से अधिक पैसा कमाने के चक्कर में हमेशा तनाव ग्रस्त हो एक जटिल मनोवृत्ति को प्राप्त होता है। इस प्रकार जटिलता से पूर्ण स्त्रो-पुरुष सम्बन्ध विशेषकर राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में देखा जा सकता है । जहाँ वहों वहों पैसे को कमो दरार उत्पन्न करतो है तो वहों-वहों पैसे को अधिकता में भो स्त्रो-पुरुष सम्बन्ध में दरार देखे जा सकते है । राजेन्द्र यादव को " कुलटा " को मिसेज तेजपाल को जोवन को त्रासदो यह है कि उसका पति मि॰तेजपाल फौजो अफसर है, धनो, तगड़ा, खूंखार और पाश्चात्य सभ्यता का पूजक भो है । पत्नी स्वयं इन बातों को इच्छुक भो है । पति, पत्नो से प्रेम करता है, पर इस प्रकार को कोई भावना मिसेज तेजपाल के हृदय में नहों है ।

1· उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ॰ 51·

अपने हृदय की मुग्धता की मानों वह सबके प्रति स्वच्छन्द और निस्संग व्यवहार से दिन-रात गीत गाकर अपनी कुतिया को लेकर हुगली के किनारे कलकत्ते की सड़कों पर खोई-खोई-सी घूमकर अभिव्यक्त करती है । पर अन्त तक अपने आप को सम्भाल नहीं पाती एवं एक वॉयलिन वादक के साथ भाग भी जाती है । यह घटना हमारे आधुनिक पूँजीवादी समाज के लिए बहुत ही साधारण घटना है जिस कारण उसे " कुलटा " करार करना ठीक नहीं पर जिसके मुख से राजेन्द्र यादव ने यह कथा कहलवाई है वह उसे " कुलटा " इसलिए करार करता है क्यों कि वह स्वयं मिसेज तेजपाल की ओर आकृष्ट है, वह स्वयं चाहता है कि मिसेज तेजपाल उसके साथ निकल पड़े तो ज्यादा अच्छा हो । दूसरी ओर " एक इंच मुसकान " की अमला परित्यक्ता है । वह एक श्रीमन्त परिवार की बेटी एवं बहू है । फिर भी पति उसे क्यों छोड़ता है वह स्वयं नहीं जानती है । साधारणतः यही देखा गया है कि विवाह के माध्यम से एक सुखी दाम्पत्य जीवन जिसमें एक दूसरे के लिए त्याग और प्रेम की भावना ही सर्वोपरि है । पर आज के इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में इस रिश्ते में भी " उपयोगिता " ने महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है । अमला पति से बिछुड़ने की घटना को एक बुरा सपना समझकर बिलकुल भूल चुकी है । उस बिछोह से हुए " फायदे " को ही सोचकर सन्तुष्ट है । राजेन्द्र यादव ने इस स्थिति को इस प्रकार से प्रकट किया है --

"अमर उसे यों देख रहा था मानों वह उसकी मुसकराहट के इस कथ्य और सहजता के आवरण को चीरकर उसके मन में झाँकने को अकुला रहा हो । पूछा, एक बात और बताओ सवेरे तुमने कहा था कि इन दस वर्षों में तुमने जो कुछ पाया है उसमें रहा - सहा विषाद भी धुल-पुछ गया है । क्या मैं जान सकता हूँ कि पति को खोकर एक नारी आखिर ऐसा क्या पा सकती है जो अपने जीवन में पति के अभाव को पूरा कर दे । अमला अब तक काफी सम्भल चुकी थी । बहुत ही सरल स्वाभाविक स्वर में हँसते हुए बोली, "तो पति की कमी क्या दुनिया में कोई पूरी कर ही नहीं सकता ? इस घटना के बाद ही मैंने पढ़ाई की, संगीत सीखा, चित्रकारी का भी थोड़ा शौक फर्माया, घूमना फिरना सीखा, स्वतन्त्र रूप से कुछ सोचना सीखा, लोगों से मिलना-जुलना सीखा यों समझ लो नई जिन्दगी पाई ।"[1]

जहाँ पूँजीवादी जीवनमूल्य इस प्रकार की मनोवृत्ति को जन्म देता है, वहीं कहीं-कहीं राजेन्द्र यादव के चरित्र में सामन्ती जीवनमूल्यों के भी अवशेष दिखाई देते हैं । "एक इंच मुसकान" की रंजना इसका जीता-जागता उदाहरण है । सामन्ती युग में नारी "मेरा पति सिर्फ मेरा है" को चरितार्थ करने के लिए पुरजोर कोशिश करती थी । आज रंजना भी अमर को अपना बनाए रखना चाहती है । जबकि वह भली-भाँति जानती है कि किन्हीं कारणों से अमर उससे ऊब गया है । वह भी एक नौकरी पेशा शिक्षित नारी है, इस बात के खुल जाते ही वह अमर को

---

1. एक इंच मुसकान - राजेन्द्र यादव - पृ. 25.

छोड़ सकती थी फिर भी वह इस पति-पत्नी के रिश्ते को बनाए रखना चाहती है । पति अमर रंजना के मातृत्व को प्राप्त करने से खुश नहीं है । वह उसको नष्ट करना चाहता है पर रंजना समझती है कि एक शिशु के आ जाने से पति-पत्नी के बीच के अनगिनत मन-मुटाव समाप्त हो जाते है । वह यह आशा रखती है कि उसके और अमर के बीच भी एक सम्बन्ध फिर से मधुर हो जाएंगे । अन्त में जब अमर इस बात से सहमत नहीं होता तो वह शिशु को नष्ट कर पति को खुश करके भी उसका दिल जीतना चाहती है ।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में हम कह सकते है कि पूँजीवादी जीवन मूल्य ने मनुष्य के लिए पैसे को ही सब कुछ बना दिया पर उसके भविष्य को अनिश्चित एवं असुरक्षित बनाने के साथ-साथ उसे कुछ हद तक भाग्यवादी भी बना दिया है । जैसे कि " एक इंच मुसकान " की अमला का यह वाक्य याद हो आता है ---

" अमला फिर खिलखिलाई - - - - - - भविष्य के बारे में कौन दावे के साथ कुछ कह सकता है भला ? मन की बनाई योजनाएँ पूरी हो, न हो । इससे तो बेहतर है कुछ बनाओं ही नहीं । बस निरुद्देश्य जीते चलो और जो कुछ भी सामने आ जाए उसे स्वीकार करते चलो । ऐसा करने से मन के बहुत से कलेश बहुत-सी निराशाओं और असफलताओं का बोझ तो यों ही हट जाता है । - - - - - - - ।"[1]

---

1. एक इंच मुसकान - राजेन्द्र यादव - पृ०

अन्त में पूंजीवादी जीवनमूल्यों से उत्पन्न मानवीय सम्बन्धों में पड़ी दरारों के संदर्भ में रोजर गेराउडी के शब्दों को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा --

" एक ऐसे समाज में जहाँ प्रत्येक चीज बेची तथा खरीदी जाती है, वहाँ बुर्जुआ नारी से नहीं बल्कि उसके दहेज से शादी करता है, दोस्त इसलिए बनाए जाते हैं कि उनसे क्या फायदा हो सकता है, विरासत का विचार वात्सलय को खत्म कर देता है, मनुष्य की इज्जत उसके व्यक्तिगत गुणों के कारण नहीं की जाती बल्कि उसकी दौलत के लिए या उसके पद के कारण बुर्जुआ कलाकृत्तियों को जैसे मोटरों के बिलकुल नए मॉडलों को आवश्यकता के लिए नहीं बल्कि प्रदर्शन तथा ऊँची कीमत के लिए खरीदता है ।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि पूंजीवाद मनुष्य-मनुष्य के बीच के सम्बन्धों की मृदुता को खत्म करके केवल नकद भुगतान के सम्बन्धों को ही स्थायी बनाने में सहायक सिद्ध होता है ।

1· रोजर गेराउडी का लेख - वर्ल्ड मार्क्सिस्ट रिव्यू 1960, पृ· 19·

तृतीय अध्याय

राजेन्द्र यादव के उपन्यास एवं मध्यवर्ग

राजेन्द्र यादव के उपन्यास एवं मध्यवर्ग

आज की सामाजिक स्थिति तनावों और विषमताओं से पूर्ण हैं। इसके जड़मूल में है आर्थिक कठिनाइयाँ एवं असमानताएँ। आज जीवन के प्रति प्रत्येक मूल्य मानदण्ड परिवर्तन के दौर से गुजर रहें हैं। इन परिवर्तित सामाजिक स्थितियों ने एक स्पर्द्धामूलक संस्कृति को पैदा किया हैं। जिसमें किसी व्यक्ति की योग्यता एवं निपुणता से ज्यादा उसकी सफलता को महत्त्व दिया जाता है। आज का मनुष्य अप्रासांगिक संदर्भों, परम्पराओं एवं रूढ़ियों से पूर्ण बातों को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं हैं। वह बीते वक्त की विफलताओं के गीत गाकर अपनी गति को अवरूद्ध नहीं करना चाहता बल्कि आज की उसकी गति है संघर्ष। जिसे पुरूषोत्तम दूबे ने अपनी पुस्तक " व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्र्योत्तर

हिन्दी उपन्यास " में इस प्रकार प्रस्तुत किया है -- " आज की गति है संघर्ष की । गतिशीलता है प्रगति की ओर इसीलिए जीवन के प्रति नैराश्य का दीप बुझ चुका है, आशावादी दृष्टिकोण उभर रहा है — पनप रहा है । यही युग की मांग है, जो प्रत्येक दृष्टि से समयानुकूल है । [1]

जीवन के इसी संघर्षपूर्ण गति, तदन्तर उससे उत्पन्न तनावों एवं विडम्बनाओं को हमारे लेखक वर्ग ने भी आत्मसात् किया । जिसके विभिन्न रंग हम उनकी रचनाओं में पाते है । इन लेखकों ने सिर्फ अपने स्वयं के वर्ग को ही बड़ी सजीदगी के साथ देखा-परखा हो जिसके संघर्ष एवं विडम्बनाओं के वर्णन में ही सिर्फ उन्हे सफलता मिली हो, ऐसा नहीं है । इनके स्वयं की वर्गीय समस्याएँ कभी-कभी अन्य वर्गों की भी देन रही है । ऐसी परिस्थिति में उन्हें अपने वर्ग से परे दूसरे वर्गों की गहराईओं में भी जाकर उनकी समस्याओं को भी देखना - परखना तो पड़ा ही है, साथ ही लेखकों ने इसका वर्णन भी अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक किया हैं ।

---

1. व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास --
 पुरुषोत्तम दूबे - पृ. 309.

3 (क) वर्गीय दृष्टि तथा उसका अतिक्रमण :-

कार्ल मार्क्स ने अपने कला एवं साहित्य विषयक चिन्तन के क्रम में रचनाकारों को दो वर्गों के अन्तर्गत रख कर देखा है -- (क) जीनियस (ख) मीडियॉकर । जीनियस लेखक के उनका तात्पर्य उन लेखकों से है जो अपनी वर्गीय सीमाओं का अतिक्रमण कर दूसरे वर्ग के अनुभव जगत को भी आत्मसात् कर अपनी रचनाओं में सजीव ढंग से प्रस्तुत करते हैं । मार्क्स की दृष्टि में इस प्रकार के लेखकों द्वारा " श्रेष्ठ कला " की सृष्टि सम्भव होती हैं ।

मीडियॉकर लेखक से मार्क्स का तात्पर्य उन लेखकों से हैं जो सिर्फ अपने वर्ग की ही समस्याओं का वर्णन करते रह जाते हैं । मार्क्स के अनुसार इस प्रकार के लेखकों द्वारा निकृष्ट कला (बैड आर्ट) की सृष्टि होती है ।

कहना न होगा कि कार्ल मार्क्स की जीनियस लेखक की कसौटी पर प्रेमचन्द एवं उनके कई समकालीन लेखक खरे उतरते है । पर इन्द्रनाथ मदान ने अपनी पुस्तक " प्रेमचन्द : एक विवेचन में लिखा है कि --

" समाज के विविध प्रकार के व्यक्तियों के जीवन और उनकी दैनिक समस्याओं में रुचि रखने पर भी यह मानना पड़ेगा, प्रेमचन्द की प्रतिभा अपने पूर्ण यौवन में तभी निखरती है जब वह निम्न मध्यवर्ग

अथवा कृषक वर्ग का चित्रण करते है । उनके अमर पात्र इन्हीं दो वर्गों से लिए गए है । ...... शिक्षित नागरिकों के चित्रण में प्रेमचन्द कभी उतने सफल न हो पाए, जितने अशिक्षित के चित्रण में ।" 1

डॉ॰मदान की उपर्युक्त स्थापना से थोड़ा असहमत होते हुए कहना चाहूँगी कि प्रेमचन्द ने यदि होरी, धनिया, गोबर, सोलिया जैसे निरक्षर एवं सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए समुदाय के सदस्यों का सफलतापूर्वक चित्रण किया है तो वहीं उन्होंने डॉ॰मालती, प्रो॰मेहता जैसे अनेकानेक अभिजात्य चरित्रों को भी अपनी रचनाओं में कुशलता के साथ समाहित किया है ।

प्रेमचन्द ने स्वयं वर्गातिक्रमण के महत्व को स्वीकार करते हुए इस कार्य में सफलता हासिल करने की अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए लिखा कि ---

" किसी ने अभी तक समाज के किसी विशेष अंग का विशेष रूप से अध्ययन नहीं किया । उग्र ने किया, मगर बहक गए । मैं ने कृषक समाज को लिया मगर अभी कितने ही ऐसे समाज पड़े है, जिन पर रोशनी की जरूरत है ।" 2

1· प्रेमचन्द : एक विवेचन - इन्द्रनाथ मदान - पृ· 4·

2· पं·बनारसीदास चतुर्वेदी को प्रेमचन्द का 3 जून 1930 को लिखा एक पत्र, जो " नई धारा " में प्रकाशित ।

इन विद्वानों के उपरोक्त उक्तियों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द जैसे लेखकों ने अपने वर्ग का अतिक्रमण तो किया पर वे अन्यान्य वर्गों का अध्ययन सतही तौर पर कर सन्तुष्ट नहीं हो पाए बल्कि गहराई तक जाकर उनकी समस्याओं का सजीव चित्रण करना चाहा । इस कार्य में उन्हें पूर्ण रूप से सफलता भी मिली जिस कारण वे स्वयं मध्यवर्गीय होकर भी जमींदार एवं निम्नवर्गीय पीड़ित किसानों का वर्णन कर हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए ।

वर्गातिक्रमण की बात प्रेमचन्द एवं उनके युग के साथ ही समाप्त हो गई हो ऐसा नहीं है प्रेमचन्दोत्तर काल ही नहीं बल्कि आज तक रचनाकार इस कार्य में सफलता हासिल करते आ रहे हैं । स्वातन्त्र्योत्तर काल के लेखकों में राजेन्द्र यादव का नाम अग्रगण्य है । वे स्वयं मध्यवर्गीय है । जिस कारण उन्होंने अपने वर्ग से सम्बन्धित पात्रों की मनोवृत्तियों का जहाँ स्वाभाविक चित्रण किया है । वहीं पूँजीपति वर्ग एवं निम्नवर्गीय मजदूरों का भी सजीव चित्र आंकने में सफलता पाई है । राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में मध्य और निम्न वर्ग दोनों का संघर्ष प्रकारान्तर से सामन्ती समाज व्यवस्था तथा उसके मूल्यों मान दण्डों के विरुद्ध ही है । दोनों में अन्तर यह है कि मध्यवर्ग का संघर्ष केवल बौद्धिक और तर्कवादी है जबकि निम्न वर्ग हड़तालों, नारों और विरोध प्रदर्शनों में विश्वास रखता है । मध्य वर्ग, कुण्ठा, नारी, यौन भावना इत्यादि के तर्क-वितर्क से उबरना नहीं जानता । अपने जीवन की विवशता, विफलता और

निराशा को लेकर उसका बुद्धिवाद केवल जीना चाहता है । उसका मत है " लगातार भविष्य के सपने देखना अंधविश्वास है, हवाई उड़ान है । लगातार पीछे देखना पलायनवाद है ...... ।"[1]

इनके श्रमिक वर्ग का स्वर, क्रान्तिकारी है । उसके भीतर उबलता हुआ आक्रोश " लाठी, गोली की सरकार नहीं चलेगी " का नारा लगाने " के साथ काँपती आवाज में हृदय बेधक स्वर से चिल्ला रहा है ---

" हमारी किस्मत में यही सदा है यही लिखा है । जिन्दा रहोगे तो तुम्हारा खून मिलों में निचोड़ा जाएगा ..... "[2]

राजेन्द्र यादव के प्रत्येक उपन्यास में तीनों ही वर्गों का वर्णन तटस्थ एवं सजीव रूप में हुआ है । कहने का तात्पर्य यह है कि कहीं भी उन्होंने मध्यवर्ग का या दया के तहत निम्न वर्ग का पक्ष लेकर पूँजीपति वर्ग की कमजोरियों का ही वर्णन नहीं किया बल्कि एक निष्पक्ष, तटस्थ एवं परिपक्व विचारक के रूप में हर वर्ग के गुणों और दोषों का वर्णन सजीव ढंग से किया है । इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में यह देखें कि कहाँ कहाँ तथा किन-

---

1. उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव - पृ॰ 50॰
2. - वही - पृ॰ 225॰

किन स्थितियों में रचनाकार की दृष्टि अपनी वर्गीय सीमाओं को अतिक्रमित कर पाती है ।

" उखड़े हुए लोग " उपन्यास में देशबन्धु जी पूंजीपति वर्ग में से सम्बन्धित हैं । " एक इंच मुसकान " की अमला एवं कैलाश भी इसी वर्ग के माने जा सकते हैं । कैलाश धनवान नौजवान हैं । जो कि एक पक्का व्यवसायी भी है । पर छोटी उम्र के कारण उसके ध्यान का बटना भी स्वाभाविक है । उसके पास धन-दौलत है पर अपरिपक्वता के कारण मध्य एवं निम्न वर्गीय से मिलने में जो कड़ुवाहट उसके हृदय में है, वही मुख से अप्रत्यक्ष रूप से निकल ही जाती है । वह स्वयं और उसी के समान और अमीरों ﴾ अमला ﴿ का अपने से कम है सियत वालों से मिलना मानो समस्त पूंजीपति वर्ग की ही शान में गुस्ताखी मानता है । इतना ही नहीं वह भारत में रहता जरूर है, पर सिर्फ ﴾शायद﴿ शारीरिक रूप से और मन से तो वह विदेश, विदेशी चीजों एवं विदेशी शिक्षा को ही ऐहमियत देता है । इस प्रकार की उसकी पूंजीवादी मनोवृत्ति को राजेन्द्र यादव ने इस प्रकार से अमला के जरिए अभिव्यक्त कराया है -- " साधारण लोगों से मिलना जुलना उनके साथ बराबरी का व्यवहार करना कैलाश को कतई पसन्द नहीं और अमला है कि लाख प्रयत्न करके भी कैलाश की उस बात के आगे अपने अपने को नहीं झुका पाई ।"[1] कैलाश स्वयं इस मनोवृत्ति का इजहार अप्रत्यक्ष रूप से करता है और कह उठता है कि " घूमने आनेवालों के लिए शहर

---

1. एक इंच मुसकान - राजेन्द्र यादव - पृ. 15.

बुरा नहीं हैं, लेकिन कुछ गन्दा शायद ज्यादा है । ...... बार। कहकर उसने धीरे से इस तरह अमला को देखा मानों इस गन्दगी और अमला का कोई सम्बन्ध या संकेत हो .... ओ । कोई बाहर की स्कॉलरशिप होगी । वहीं तो मैंने कहा कि यहाँ किस चीज के लिए तीन-तीन इण्टरव्यूह होते हैं । कैलाश सन्तुष्ट हो गया ।"[1]

इसी के विपरीत अमला एक पूंजीपति पिता की एकलौती बेटी होकर भी अगर जो मध्यवर्गीय है उससे मेलजोल बढ़ाती है । वह अपने से कम हैसियत वालों से मेलजोल बढ़ा कर अपनी महानता का मोहरा लगाना नहीं चाहती । बल्कि वह उसका अपनत्व है । कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि अमला का अमीर पति उसे बेवजह छोड़ देता है । जीवन में इतनी बड़ी चोट ने शायद उसकी मनोवृत्ति को परिवर्तित कर दिया हो । दूसरी ओर उखड़े हुए लोग के देशबन्धु जी अमला के समान और कैलाश के विपरीत मध्य एवं निम्नवर्गीयों से मेलजोल बढ़ाते है । उनसे बड़ी ममत्व के साथ बातें भी करते हैं । अनजाने ही उनके इस व्यवहार से एक अस्वाभाविकता भी झलकती है । विशेष कर तब जब उन्हीं के गाँव का एक लड़का शरद उनसे शहर में नौकरी की माँग करता है और काफी समय के बाद तक देशबन्धु जी जैसे व्यस्त नेता एवं व्यापारी को शरद याद रह जाता है और उसे वे अपने पास नौकरी के लिए बुलाते हैं । पर धीरे-धीरे उनके चेहरे पर से पर्दा उठने लगता है और अन्त में वह साक्षात् प्रकट होकर सभी भ्रम का अन्त कर देते है और वह एक

---

1. एक इंच मुसकान - राजेन्द्र यादव - पृ. 33.

अत्याचारी, अन्यायी से बढ़कर कुछ भी रह नहीं जाते । इस का जीता-जागता उदाहरण इस उपन्यास में पत्रकार सूरज है । जब तक वह देशबन्धु जी की चापलूसी करता है तब तक उनकी दया का पात्र बना रहता है पर जैसे ही वह स्वार्थी देशबन्धु का पर्दाफाश करना चाहता है तो उसे नोटिस मिलती है कि " आपकी सेवाओं की " बिगुल " को अब आवश्यकता नहीं है । कृपया सुबह सात बजे से पहले " क्वार्टर खाली कर दे । " [1]

हर तरह के अनाचार के दोषी देशबन्धु शरद को समझाते है कि कम्युनिस्ट अपनी नेतागिरी के लिए मजदूरों को भड़काती है जिससे हड़ताल हो, गोली चले मजदूर मारे जायँ और वे नेता हो जायँ । कहते है " सवाल तो, जैसा मैंने एक बार तुमसे शायद कहा भी था, नेतागिरी का है लोग दस मरे या बीस, बस हमें नेता मान लिया जाय । अब बताइए इस मनोवृत्ति को आप कैसे सहेंगे ? बड़ी मोटी सी मिसाल लोग देते है न इन नेताओं के बारे में अगर रूस में पानी बरसने लगे तो यह लोग यहाँ छाता लगाए । ...... मैं कहता हूँ, आप लाख कोशिश कीजिए जिन्दगी भर कोशिश कीजिए हिन्दुस्तान रूस नहीं होगा, नहीं होगा, रूस में होते तो अब तक गोली से उड़ा दिए जाते । "[2]

---

1. उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 348.

2. - वही - पृ. 315.

वे कम्यूनिस्ट जो वाकई मजदूरों के लिए कुछ करना चाह रहे हैं उन पर देशबन्धु जी "नेतागिरी" की तोहमत लगा रहे हैं। जबकि वे स्वयं अपनी "नेता भैया" की पदवी और कुर्सी को कायम रखने की कोशिश में न जाने कितना अन्यायपूर्ण कार्य कर रहे हैं। उन्होंने अपने मिल के एक मजदूर की मृत्यु पर उसकी पत्नी एवं बच्चों को सिर्फ 500 रुपया मुआवजा देकर मामला रफा-दफा करना चाहते हैं। अन्य मजदूर इसके खिलाफ आवाज न उठाए इसलिए उन्हें विभिन्न प्रकार के अधिकारों का सब्जबाग दिखाकर टरका देते हैं। पर राजेन्द्र यादव ने "उखड़े हुए लोग" में हमारे निम्न वर्ग "जिसे हम "मजदूर वर्ग" कहते हैं, उन्हें अपने परम्परागत बंधुआ मजदूर रूप को तोड़ते हुए एवं "रूस" के "कम्युनिज्म" से प्रभावित हो यहाँ भी यूनियन बना कर अपने अधिकारों की मांग करते हुए दिखाया है। "मजदूर-एकता जिन्दाबाद! दुनिया के मजदूरों एक हो। .... ये किराए के टट्टू माँफी और बोनस के सब्ज-बाग दिखाकर सामने आते हैं हमें भीख नहीं चाहिए जो कुछ हम माँग रहे हैं वह हमारा अधिकार है।"[1]

इस प्रकार राजेन्द्र यादव ने स्वयं मध्यवर्गीय होकर भी हमारे समाज के पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग का सजीव चित्रण किया हैं। कार्ल मार्क्स द्वारा रेखांकित इन तीन वर्गों के अतिरिक्त राजेन्द्र यादव के

---

1. उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 290.

उपन्यासों में कुछ विशेष बातें पाई जाती है । राजेन्द्र यादव के " उखड़े हुए लोग " उपन्यास में चित्रित अनेकानेक चरित्र डॉ॰राम विलास शर्मा के शब्दों में " अपने वर्ग-मध्यवर्ग से उखड़ कर सीधे मजदूर वर्ग से ही टकराते हैं -- उससे संघर्ष करने के लिए नहीं, नए भाई चारे के लिए " उखड़े हुए लोग " का सूरज आरम्भ में " आधा " सहृदय " और " आधा सिनिक " - यह तो संसार है, अपने काम से काम रखो - इस दर्शन का कायल दिखाई देता है । उपन्यास के अन्त तक उसका यह सिनिकपन छूट जाता है और उस दिशा की ओर संकेत करता है जिस ओर मध्यवर्ग के उखड़े हुए लोगों को अन्त में चलना है । " ।

" सारा आकाश " में भी समर का सामन्ती परिवार अपना सब कुछ खोकर मध्यवर्गीय का और आज घर में औरतों को तन छुपाने बच्चों को उचित शिक्षा प्रदान करने और यहाँ तक कि घर पर भरपूर खाने-पीने की कमी, समर की पच्चहत्तर रुपए की नौकरी से सम्पूर्ण परिवार की हद से अधिक उपेक्षाएँ, मध्यवर्ग के भीतर हर समय आर्थिक असुरक्षा की भावना के विद्यमान होने का द्योतक है ।

1· आस्था और सौन्दर्य - डॉ॰रामविलास शर्मा - पृ॰ 168·

राजेन्द्र यादव स्वयं मध्यवर्गीय है तो उसकी खूबियों और खमियों को कितनी तटस्थता के साथ अपनी उपन्यासों में दिखाते है उसे भी समझना आवश्यक है --

उनके उपन्यासों में मध्यवर्गीय पात्र सर्वदा एक असुरक्षा की भावना में जीता हैं। इसी असुरक्षा की भावना के तहत वह कभी-कभी विभिन्न प्रकार की समाज विरोधी कार्यों में भागीदारी करता है, तो फिर कभी विश्वासघात तक कर बैठता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह वर्ग अधिकतर दो नावों पर सवार रहता है। इसीलिए क्रिसटोफर कोड्वेल ने इस वर्ग को "कमीनावर्ग" कहा है। "सारा आकाश" में समर के पिता "समर" एवं "अमर" की शादी करने को उतावले है। जबकि दोनों ही बेरोजगार है। समर तो कम से कम पास होकर कॉलेज की पढ़ाई और छोटी-मोटी नौकरी करने की काबिलियत रखता है पर अमर तो परीक्षाओं में असफल होता जा रहा है। फिर भी पिता बेशक प्रत्यक्ष में ये कहे कि "मेरी आँखों के आगे सब ही हवा जाए तो गंगा नहाऊँ। पता नहीं, फिर क्या हो ?"[1] पर परोक्ष रूप से उनकी मंशा तो सिर्फ अपने स्वार्थपूर्ति की है कि बेटों की शादी में आए दहेज के पैसे से वे अपना कर्ज उतारे चाहे बेटों को शादी के पश्चात् बुरे से बुरा दिन देखना क्यों न पड़े। वे चन्दन जी (समर के मामा) से कहते हैं कि "हाँ तो चन्दन जी, भाई बुरा

---

1. सारा आकाश - राजेन्द्र यादव - पृ. 62.

मानने की बात है नहीं, समर की शादी की तरह गोलमोल बात हम इस बार नहीं रखना चाहते । लेने देन की बात साफ होगी .... "।[1] इतना ही नहीं समर के पिता जब तक वह बेरोजगार रहता है तब तक उसे अपने तानों के जरिए एक जिल्लत भरी जिन्दगी जीने को मजबूर करते हैं पर जैसे ही उसे एक सामान्य पच्चहत्तर रुपए महीने की नौकरी मिल जाती है तो उसी की तरफदारी पूरे घर में होने लगती है ।

मध्यवर्ग हमेशा एक दुविधा की स्थिति में रहता है । वह किसी भी प्रकार का निर्णय दृढ़ होकर लेने में अक्षम है । आज शिक्षित एवं सफेद पोश नौकरियों में रहकर भी वह इस दुविधाजनक स्थिति से उबर नहीं पाया है।" एक इंच मुसकान " को अमर रंजना से प्रेम करता है, विवाह करना चाहता है । पर विवाह से एक माह पूर्व विवाह करने से इन्कार करके चला जाता है । वापस थोड़े दिनों के बाद आकर रंजना से शादी करता है । फिर से अकारण पत्नी से रूठ जाता है । यहाँ तक कि रंजना के मातृत्व से भी खुश नहीं होता । उसे अकेला छोड़ वह अमला के पास चला जाता है । पर अन्त में अमर का हृदय कह उठता है -- " मैं निरपराध हूँ रंजना बिल्कुल निरपराध। पुरी में उस रात अमला के मनुहार भरे, उन्माद भरे आमन्त्रण पर भी

---

1. सारा आकाश - राजेन्द्र यादव - पृ. 210.

मैं जड़, निश्चेष्ट बैठा रहा, क्योंकि मुझे तुम्हारा ही ख्याल था । .... मैं ने तुम्हें प्यार किया था, आज भी करता हूँ ।"[1]

इस उपन्यास में अमर विवाह को जीवन में अपने क्षेत्र में आगे बढ़ने के मार्ग का रोड़ा समझता है । फिर भी किसी का दबाव न होने के बावजूद भी हजारों ना-नुकर के बाद विवाह करता है पर समझौता नहीं कर पाता । वहीं " सारा आकाश " का समर पिता और परिवार वालों के दबाव में आकर विवाह करता है जबकि वह भी विवाह पत्नी इत्यादि को जीवन में आगे बढ़ने के पथ का रोड़ा समझता है । पर बाद में वह रुचि के अनुसार जीवन में आगे बढ़ते हुए अपनी पत्नी के साथ भी समझौता करता है । इस प्रकार यह मध्यवर्ग जो दुविधा में फँसा रहता है । कहीं-कहीं तो समर के समान दुविधा से उबरकर सफलता के पथ पर चल देता है पर कहीं कुछ अमर के समान लोग इसी दल-दल में फँसे रह जाते है । " एक इंच मुसकान " के अमर के समान ही " मंत्रविद्ध " का शादी शुदा तारक है जिसने सुरजीत से भाग कर शादी तो कर ली है पर अपने इस निर्णय पर अटल नहीं रह पाता और अन्त में सुरजीत के पिता के पास ही लौट जाता है ।

---

1. एक इंच मुसकान : राजेन्द्र यादव - पृ. 250.

इस प्रकार राजेन्द्र यादव ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग की कमजोरियों का भी बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया है। क्यों कि लेखक ने स्वयं इस प्रकार की स्थितियों का सामना किया होगा या अपने किसी निकटतम सम्बन्धी को जीवन की इन स्थितियों से जूझते हुए देखा होगा। पर कुछ हो न हो उनके उपन्यासों में गुजरते हुए हम बड़ी शिद्दत के साथ महसूस कर सकते हैं कि कहीं कथ्य के स्तर पर अनुभूति की बुनावट में कहीं से भी कृत्रिमता या बनावटीपन नहीं है। उन्होंने मध्यवर्ग की इस मनोवृत्ति का वर्णन उसकी सम्पूर्ण सच्चाई के साथ इसीलिए किया होगा क्यों कि मध्यवर्ग की इस क्षुद्र मनोवृत्ति के फलस्वरूप सामाजिक जीवन डगमगा जाता है। यहीं से भारतीय समाज की विडम्बना शुरू हो जाती है।

3· ﴾ख﴿ स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय सामाजिक जीवन की विडम्बना :-

स्वातन्त्र्योत्तर काल " मोह भंग " का काल है। स्वतन्त्रतापूर्व भारतीयों ने जिस प्रकार के जीवन की कल्पना की थी, उसके ठीक विपरीत ढंग की जिन्दगी उसे मिली। कुछ लोग जो जीवन की इस विडम्बना से जूझ नहीं पाए उन्होंने खुलेआम अंग्रेजों के समय की जिन्दगी को बेहतर घोषित करना शुरू कर दिया। स्वतन्त्रता के उपरान्त शुरू के कुछ वर्षों में तेजी से परिवर्तन हुए उसकी गति संयत थी पर कुछ ही वर्षों में यह परिवर्तन इस द्रुतगति से हुआ जिसके लिए एक भी भारतीय तैयार नहीं था

इस प्रकार राजेन्द्र यादव ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग की कमजोरियों का भी बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया है। क्यों कि लेखक ने स्वयं इस प्रकार की स्थितियों का सामना किया होगा या अपने किसी निकटतम सम्बन्धी को जीवन की इन स्थितियों से जुझते हुए देखा होगा। पर कुछ हो न हो उनके उपन्यासों में गुजरते हुए हम बड़ी शिद्दत के साथ महसूस कर सकते हैं कि वहाँ कथ्य के स्तर पर अनुभूति की बुनावट में कहीं से भी कृत्रिमता या बनावटीपन नहीं है। उन्होंने मध्यवर्ग की इस मनोवृत्ति का वर्णन उसकी सम्पूर्ण सच्चाई के साथ इसलिए किया होगा क्यों कि मध्यवर्ग की इस क्षुद्र मनोवृत्ति के फलस्वरूप सामाजिक जीवन डगमगा जाता है। यहीं से भारतीय समाज की विडम्बना शुरू हो जाती है।

3• ﴾ख﴿ स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय सामाजिक जीवन की विडम्बना :-

स्वातन्त्र्योत्तर काल " मोह भंग " का काल है। स्वतन्त्रतापूर्व भारतीयों ने जिस प्रकार के जीवन की कल्पना की थी, उसके ठीक विपरीत ढंग की जिन्दगी उसे मिली। कुछ लोग जो जीवन की इस विडम्बना से जूझ नहीं पाए उन्होंने खुलेआम अंग्रेजों के समय की जिन्दगी को बेहतर घोषित करना शुरू कर दिया। स्वतन्त्रता के उपरान्त शुरू के कुछ वर्षों में तेजी से परिवर्तन हुए उसकी गति संयत थी पर कुछ ही वर्षों में यह परिवर्तन इस द्रुतगति से हुआ जिसके लिए एक भी भारतीय तैयार नहीं था।

ऐसी स्थिति में हम स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय सामाजिक जीवन की विडम्बना को राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न श्रेणियों में बांटकर देख सकते हैं ।

§1§ मूल्य संघर्ष एवं सम्बन्धों का विघटन :-

स्वातन्त्र्योत्तर काल में परिस्थितियाँ बदली जिसके फल स्वरूप जीवन-मूल्यों में भी परिवर्तन होना सहज हैं । शिक्षा के साथ-साथ मौलिक चिन्तन का भी विकास हुआ । जिस कारण परम्परागत मूल्य आज निरर्थक मानकर छोड़े जा रहे हैं । समकालीन सामाजिक जीवन में जीवनमूल्यों का जहाँ एक तरफ विघटन दिख पड़ता है वहीं कल-कारखानों और औद्योगीकरण के प्रभाव से मानवीय सम्बन्धों में भी दरार पड़ने लगी है । डॉ॰महाराज कृष्ण जैन के शब्दों में " सर्वत्र व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य यन्त्र दीवार बनकर खड़ा हो गया है और मानवीय सम्बन्ध वस्तुत: " असम्बन्ध " में परिणत हो गए हैं ।" [1]

मूल्य मानदण्ड का हमारे जीवन में महत्व इसलिए अधिक है क्यों कि उसी के आधार पर हम अच्छे-बुरे का निर्णय करते हैं । दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि मूल्यों का मानव के साथ मानसिक सम्बन्ध बन जाता हैं ।

1· सचेतना, मार्च 1970, पृ· 56-57·

इस दृष्टि से देखें तो स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। जहाँ सबसे अधिक परम्परा से चले आ रहे संयुक्त परिवारों के विघटन को दिखाया गया है। जिसका कि जीता-जागता उदाहरण राजेन्द्र यादव का " सारा आकाश " उपन्यास है। जहाँ समर प्रभा से कहता है कि " सच प्रभा " कभी-कभी तो ऐसी झुँझलाहट होती है कि यहाँ से कहीं भाग चलें। " 1 इसी उपन्यास का एक पात्र शिरीष भाई संयुक्त परिवार के विघटन की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि --

" संयुक्त परिवार का शाब्दिक आदर्श चाहे जितना महान हो उसका सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि परिवार का कोई भी सदस्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता। सारा समय तो समस्याएँ बनाने में, या बनी बनायी समस्याओं को सुलझाने में जाता है। .... " 2

इससे भी अधिक विकट स्थिति " एक इंच मुसकान " में अमला के परिवार की है जहाँ एक ही अहाते में अमला के अन्दर एक बंगले में परित्यक्ता अमला नौकरों-चाकरों के साथ रहती हैं। जहाँ उद्योगपति

---

1. सारा आकाश : राजेन्द्र यादव - पृ. 123.
2. - वही - पृ. 194.

पिता फुरसत होने पर बेटों से सहानुभूति की प्यार बातें करने आ जाते हैं । दूसरे बंगले में अमला के भाई-भाभी इस तरह से अलग रह रहे हैं मानों इस बंगले वालों से उनका कोई सरोकार ही नहीं हैं ।

इसी मोड़ पर आकर हमारे सामने आधुनिकता की स्वीकृति और अस्वीकृति का सवाल उठता है । जहाँ लोग आधुनिकता के तहत संयुक्त परिवार से विश्वास खो रहे है, वहीं कहीं-कहीं बदली हुई परिस्थिति में आधुनिक भारतीय किंकर्तव्यविमूढ़ सा दिख पड़ता है । इसका मुख्य कारण उसकी भावुकता एवं संवेदनशीलता है । जिसके कारण वह आधुनिकता को अपनाते हुए भी कहीं न कहीं अस्वीकृत करता हुआ सा दिखाई पड़ता है । " मंत्रविद्ध " में सुरजीत कहती है -- " गोयल जी के यहाँ चाय पी रहे थे, उनके दो एडवाकेट दोस्त भी थे, उनकी पत्नी, गोयल जी की पत्नी, बहन और जाने कौन-कौन । ···· ···· सो सब मिलकर मुझे समझाने लगें कि मुझे डैडी के पास दिल्ली ही लौट जाना चाहिए । दो घण्टे दो औरतें मिलकर मुझे उपदेश देती रहीं कि भले घर की लड़कियों को किस तरह रहना चाहिए, किस तरह माँ बाप की इज्जत उनकी इज्जत होती है कैसी-कैसी मुसीबतों से माँ बाप पालते हैं । यह भारतीयता के खिलाफ है और विलायतों की नकल से कालेज में पढ़ने वाली लड़कियों का दिमाग किस तरह बिगड़ गया हैं । अब मुझे जाकर डैडी से माफी माँग लेनी चाहिए । गलती सभी से हो जाती है । लेकिन उसे सुधारा जा सकता है । कहने लगी कि मुझे देखकर कैसे सीधी-सादी बहू-बेटियों पर खराब असर होता है और कितना नीच काम मैंने किया हैं । "[1]

1· मंत्रविद्ध - राजेन्द्र यादव - पृ· 70·

§ii§ आर्थिक विषमता एवं विसंगतिपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध :-

आज पैसा ही हर स्थान पर महत्त्वपूर्ण बन गया है। इन्सान को आपसी मानवीय संवेदना से पूर्ण रिश्ते दोयम दर्जे के हो गए हैं। आज हर तरह के रिश्ते को पैसे से तोला जाने लगा है। राजेन्द्र यादव की " अनदेखे अनजान पुल " की नायिका निन्नी कुरूप है। उसका विवाह नहीं हो पाता है। यहाँ निन्नी का अविवाहित रह जाने का एकमात्र कारण सिर्फ उसकी कुरूपता ही हो ऐसा नहीं है, वस्तुतः वह एक मध्यवर्ग की कई-भाई-बहनों के बीच पली-बढ़ी है। पर वहीं श्री सम्पन्न परिवार की कुरूप लड़की की कुरूपता पैसे से ढ़क दी जाती है। इस बात को निन्नी ने स्वयं स्पष्ट कहा है -- " अक्सर एक हूक उठती, रूप न सही, उसके पास रुपया ही होता तो देख लेती, कौन यों उसके मुहँ पर कह जाता कि " सूरत की न शक्ल की .... ।"[1] तब बाबूजी भी कहते, लो गाड़ी, लो जेवर लो, नकदी लो और करो मेरी लड़की से शादी ...... लेकिन अपने घर की जो स्थिति थी, वह तो थी ही, उसमें क्या परिवर्तन आना था। जब किसी चीज के लिए अम्मा से कहो, वे बैठा कर खर्चा बताने लगती।"[1] यह तो फिर भी हमारे समाज के लिए एक सर्वसाधारण समस्या है। पर राजेन्द्र यादव के " सारा-आकाश " में अर्थ के कारण एक ही परिवार के लोगों में जो तनाव है उसे देख दिल-दहल उठता है। समर जब तक बेरोजगार है

---

1. अनदेखे अनजान पुल - राजेन्द्र यादव - पृ. 106.

तब तक उसके और उसकी पत्नी के साथ सौतेला व्यवहार होता है । पर जैसे ही समर को एक छोटी-मोटी नौकरी मिल जाती है वैसे ही पिता के स्वर में न जाने कहाँ से सारे जहान की मिठास आ जाती है । समर कहता है कि उस दिन आते हुए मुझे देर हो गई । आशंकाओं से काँपते हुए ही घर में पांव रखा कि बाबूजी से सामना पड़ गया ... . बड़ी देर लगा देते हो समर, आखिर बहू खाने को भी तो बैठी रहती है । खाना-वाना खाकर ही घूमने निकल जाया करों न । फिर ठण्डा खाना शरीर को लगता भी तो नहीं है । बाबूजी के स्वर के इस वात्सल्य को तो जाने कब से मै भूल ही चुका था । "[1]

" उखड़े हुए लोग " का शरद स्वयं नहीं जानता कि उसकी तनख्वाह कितनी है । दूसरी ओर देशबन्धु जी जो 'नेता भैया' के नाम से जाने जाते है । जिनके पास असंख्य मील, कारखाने है । वह धन के लालच में मायादेवी के पीत को जहर देकर मार डालने से भी नहीं चूकते । शरद जिसके पास पैसे की कमी है वह और धन-सम्पन्न देशबन्धु जी दोनों को ही पैसा चाहिए । शरद की मांग जायज है क्यों कि उनके पास कुछ नहीं है । पर परिवर्तित परिस्थिति की विडम्बना ही हम देशबन्धु जी को कह सकते है जो कि पैसे के पीछे इतने पागल है कि उन्हें " फिट्स " आने लगते है । " कम्यूनिस्ट पार्टी " दरअसल गरीबों की रक्षा की पार्टी है । पर उसी पार्टी से

1· सारा आकाश - राजेन्द्र यादव - पृ· 171·

निकाले गए सज्जन किताबों के दूकान खोलने के नाम पर पार्टी के एक हमदर्द का पैसा खा जाते है । देशबन्धु जो उलटा-चोर कोतवाल को डाँटे की तर्ज़ में शरद से कह उठते है कि -- " देखो यह है कम्यूनिज्म .... यही तो वे लोग है जो कम्यूनिज़्म के नाम पर कलंक है.। " ¹

⁅iii⁆ अलगाव और अकेलापन :-

कहना न होगा कि आज मूल्यों की विसंगति ही अलगाव का कारण है । स्वातन्त्र्योत्तर काल में समाज में परम्परा से चले आने वाले मूल्य और आधुनिक मनुष्य शिक्षा एवं विभिन्न प्रकार के एक्सपोज़र के कारण जो अपनी एक निजी मूल्य बनाता है -- उन दोनों के टकराव एवं उसमें आधुनिक मनुष्य की हार ही अलगाव का कारण है । अलगाव की स्थिति में मनुष्य सिर्फ समाज से ही नहीं बल्कि अपने आप से भागने लगता है क्यों कि उसके निजी मूल्यों की अस्वीकृति से वह हताश हो यह सोचने को बाध्य होता है कि उसको समाज में उसकी कोई एहमियत नहीं है । अलगाव सिर्फ मूल्य - संघर्ष का ही फल नहीं है । बल्कि आज की दूषित राजनीतिक परिस्थिति में जब वह अपने आप को " मिस फिट " पाता है तो उसमें अलगाव की भावना जागृत होती है । डॉ॰ विनय मोहन के शब्दों में यदि कहे तो ----

---

1· उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ॰ 202·

" एक ओर आधुनिक विज्ञान की विकसित यांत्रिकता और दूसरी ओर सामाजिक पछड़ापन, यह विरोधाभास यहाँ के व्यक्तियों की मानसिकता में विशेष अलगाव की भावना भरता है ।"[1]

उपरोक्त बात को पाश्चात्य विद्वान एर्नेस्ट फिशर के शब्दों में इस प्रकार से देख सकते है --
" The contradiction between findings of modern science and the backwardness of social understanding also encourages a sense of alienation."(2)

समकालीन सामाजिक जीवन में यह अलगाव की भावना इस सीमा तक विकसित हो चुकी है कि व्यक्ति अपने को अपने से तथा अपने परम्परागत सम्बन्धों से सर्वथा पृथक अनुभव कर रहा है । राजेन्द्र यादव की उपन्यास " मंत्रीविद्ध " की नायिका सुरजीत अपने मनपसन्द आदमी से विवाह करके भी असन्तुष्ट है, अलगाव की स्थिति में वह उठती है कि " सच भाई साहब मेरा दिमाग तो खराब हो गया है । कुछ समझ में ही नहीं आता । इतनी ज्यादा डिस्गस्टैड हो गई हूँ कि डर लगता है कहीं कुछ कर न डालूँ ...... ऐसी ढुल-मुल स्थिति में रहने की आदत नहीं है ।" 3

1· आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना से उद्धरित : डॉ· विनय मोहन सिंह ।

2· The Necessity : Ernst Fischer : Pg - 86

3· मंत्रीविद्ध : राजेन्द्र यादव - पृ· 98·

" एक इंच मुसकान " का अमर लेखक है । पर विवाह के बाद जब वह अपने कार्य को बढ़ा नहीं पाता । तब विवाह को अपने प्रगति के मार्ग का रोड़ा समझ सब कुछ छोड़-छाड़ कर दिशाहीन सा निकल पड़ता है । यह तो पारिवारिक स्थिति का नतीजा है । पर राजनीति जब दूषित वातावरण उत्पन्न करती है तो इन्सान को मैदान छोड़कर भागने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं रहता । " उखड़े हुए लोग " का शरद जया से कहता है, " लोग घुटते है, गलते है, छटपटाते हैं लेकिन जरा-सी हिम्मत नहीं कर पाते । "[1] इससे आगे मजदूरों की एकता का वह दृश्य याद करके कहता है कि " मैने तो आज तीन लाशें देखी, बेहोश होते-होते बच गया और वहाँ एक कोई और था जिसने लाशों से कपड़ा उठा दिया । उफ कैसी कड़क थी आवाज में जब हजारों लोगों की आवाज सभी कर आदमी बोलता है तो कैसी भाले सी और फौलाद-सी ठोस आवाज हो जाती है । "[2] ऐसी परिस्थिति में शरद की स्थिति को रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक " आस्था और सौन्दर्य " में इस प्रकार से विश्लेषित किया है --

" देशबन्धु के काले कारनामे देखकर वह जया के साथ कलकत्ते से चल देता है । आगे वह जया के साथ कलकत्ते से चल देता है । आगे वह क्या करेगा, पता नहीं । लोग घुटते हैं, छटपटाते है, जरा सी हिम्मत नहीं कर पाते । उसकी हिम्मत देशबन्धु का साथ छोड़ने भर में है । ...... "[3]

---

1. एक इंच मुसकान : राजेन्द्र यादव - पृ. 322.
2. - वही - पृ. 323.
3. उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव - पृ. 175.

" एक इंच मुसकान " की अमला में यह अलगाव की स्थिति ही है जो उसे यह कहने को बाध्य करती है कि " कहो तो आज ही इसी क्षण सबकुछ तोड-ताड़कर अलग भी हट सकती हूं । "[1] इन्हीं स्थितियों की देन है अकेलापन । मानो यह अकेलापन आधुनिक व्यक्ति की नियति है । राजेन्द्र यादव के " एक इंच मुसकान " की नायिका अमला पति से बिछुड़ कर अकेली पड़ जाती है । जिसे छिपाने या भूलाने के लिए ही मानो वह आज की पढ़ाई, गाना-बजाना इत्यादि शुरू करती है । " अनदेखे अनजान पुल " की निम्मी जिन्दगी की कटु वास्तविकता से जूझते-जूझते थककर बिमार है । अकेलेपन ने उसे इस तरह से आकर जकड़ा है कि सच में उसके पास कोई आए-जाए तो भी वह उनसे निकटता महसूस नहीं कर पाती । ऐसी परिस्थिति में मनुष्य सिर्फ सहानुभूति और प्रेम का भूखा होता है । दर्शन बिमार निम्मी का एक चुम्बन लेता है । तब वह सहानुभूति या प्रेम की एक झलक मात्र से उभड़ पड़ती है । उस पुलकित कर देने वाली स्थिति को राजेन्द्र यादव ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है और एक निराशा जनक आश्चर्य निम्मी को इस बात से भी हो रहा था कि कभी जिस बात की कल्पना-झलक भी उसकी रग -रग, अन्तर्तम तक रोमांचित कर जाती थी, उस बात से साक्षात् घटित हो चुकने पर भी वह यों निर्विकार बनी रही ·· ··· यहीं नहीं, तुरन्त सो भी गई ········· लेकिन इन सारे तर्क-वितर्क, शंका-सन्देहों के बावजूद, एक प्रसन्न-भाव हमेशा मन पर छाया रहने लगा कि उसके साथ कुछ प्रीतिकर हुआ है ······· कोई तनाव था,

---

1· एक इंच मुसकान : राजेन्द्र यादव - पृ· 80·

जो एक शीतल सन्तोष की माधुरी में बदल गया था ..... और साबुन या रीठे का पानी जब बालों में भरा हो, तो गुनगुना पानी सिर पर डालने से जैसे जकड़न का कसाव ढीला हो जाता है, वैसे ही मुक्ति को सहानुभूति होती थी .... ।"[1]

राजेन्द्र यादव ने अपने दो लघु उपन्यासों (मंत्रविद्ध और कुलटा) में इस स्थिति का वर्णन बड़ी संजीदगी के साथ किया है । " मंत्रविद्ध " का तारक बेरोजगार होकर अकेलापन महसूस करता है जिसका कि वर्णन सुरजीत के मुख से इस प्रकार कराया गया है -- " मुझे तो बस इतना ही ख्याल आता है । ही फिल्स लोनली एण्ड रिजेक्टेड .... अगर मैं चली गई तो हुगली में डूब मरेंगे ...... और यह मैं भी जानती हूँ कि दिल्ली जाकर .... ।"

इसके विपरीत " कुलटा " की नायिका मिसेज़ तेजपाल, मेजर तेजपाल के दो महीने के लिए कैम्प पर चले जाने पर इस हद तक अकेलापन महसूस करती है कि " डिप्रेशन " में चली जाती है और अन्त में एक वायोलेनिस्ट के साथ भाग जाती है जिस कारण समाज उसे कुलटा कहता है पर कोई उसके अकेलेपन की मनःस्थिति की ओर ध्यान ही नहीं देता । "मेजर तेज़पाल दो महीने को कैम्प पर चले गए ...... दो एक दिन तो हमारे यहाँ अड्डा जमाए रखा । लेकिन फिर हम सभी लोगों ने ध्यान

---

1. मंत्रविद्ध - राजेन्द्र यादव - पृ. 96.

दिया .... धीरे-धीरे उसका गाना कम होने लगा । इसके साथ-साथ औरों के यहाँ आना-जाना भी कम हुआ ।"[1]

मिसेज तेजपाल ने घर छोड़ने से पहले लिखे खत में अपने अकेलेपन का जो वर्णन किया है उससे गुजरने पर उन्हें कुलटा कहने के बजाय, उसके प्रति दया की भावना पैदा होती है वे लिखती है ----

" .... तनाव टूट जाने की स्थिति तक आ पहुँचा है । सारे दिन अकेली बैठी पढ़ा करती हूँ लेकिन कुछ भी नहीं पढ़ पाती ... पता ही नहीं रहता कि चारों तरफ क्या होता रहता है । ..... नींद पूरी तरह आती ही नहीं । जाने क्या-क्या घूमा करता है दिमाग में ।"[2]

iv. <u>यौन सम्बन्धों में विसंगतियाँ :-</u>

वैदिक साहित्य में " काम " को जीवन का मूल कहा है । यौन सम्बन्ध सृष्टि से जुड़ा है । जिसे सुव्यवस्थित करता है - प्रेम। आधुनिक लेखक अपनी रचना में यथार्थ का प्रस्तुतीकरण जैसे का तैसा करना चाहता है । देखें और भोगें को निरावृत ढंग से प्रस्तुत करने के विचार ने ही

---

1. कुलटा - राजेन्द्र यादव - पृ. 98 - 99
2. - वही - पृ. 105 - 106.

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में " सेक्स " के प्रवेश को मान्यता दी। अधिकतर लेखक अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत करने के लिए ही सेक्स का उपयोग करता है। जहाँ वह मर्यादा के उल्लंघन से भी कतराता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में बदले परिवेश के साथ यौन सम्बन्धों में आई जटिलताओं को दिखाना जहाँ एक तरफ लेखक का उद्देश्य है। दूसरी ओर एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यह भी है कि सेक्स का समावेश किसी भी उपन्यास के परिवेश के उद्घाटन में भी सार्थक हो, जिसे कॉडवेल ने इस प्रकार विश्लेषित किया है —

Sexual love is also a modified form of Economic Relation.[1]

इस परिपेक्ष्य में राजेन्द्र यादव के उपन्यासों को देखना आवश्यक हो जाता है। इन्होंने अपने उपन्यासों में बदले परिवेश के साथ यौन-सम्बन्धों में आए परिवर्तन और कहीं-कहीं उस परिवेश में इन सम्बन्धों में आए विसंगतियों को बड़े संयत एवं मर्यादा के दायरे के अन्तर्गत दिखाया है। कहीं भी विसंगतियों की अभिव्यक्ति के बहाने इनके सेक्स वर्णन में उच्छृंखलता या छिछोरापन नहीं दिख पड़ता।" अनदेखे अनजान पुल " उपन्यास में निभी कुरूप है तो क्या हुआ उसके युवा हृदय में अपने उम्र के अनुकूल यौन-चेतना की जागृति होती है। पर निभी अपने रूप के कारण किसी पुरूष का सान्निध्य ग्रहण नहीं कर पाती। अप्रत्यक्ष रूप से यही यौन-

---

1. Studies of Dynamic Culture - कॉडवेल पृ॰ - 42

अतृप्ती की भावना उसकी कुरूपता की समस्या को विकराल रूप में प्रस्तुत करता है और निन्नी हीन भावना का शिकार होने को बाध्य होती है । जहाँ-जहाँ उसके हीन-भावना को चुनौती के रूप में लिया है । उन जगहों पर उसके मन की भावनाओं को राजेन्द्र यादव ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

" लेकिन भीड़-भरे बाज़ारों में या त्यौहारों-मीटिंगों में वह " चमत्कार " तो कहीं नहीं मिला, हाँ, जानबूझकर और अनजाने ही मिलने वाले धक्कम-धक्केको या दबावों ने एक सिहरन भरी रोमांटिक सनसनाहट का चस्का जरूर मन में जगा दिया .... पसली से सरककर छाती को छूटी अनजान कोहनी या अदृश्य उंगलियाँ की चिकोटी एक रहस्यमय गुदगुदाहट से तन-मन को झनझना जाती और उसी झनझनाहट की खोज में वह भीड़ में जाने के अवसर खोजती रहती ..... शायद यह सागर द्वारा दिया गया हो " चस्का " या जो अब अनेक अनेक रास्तों में फैलकर अपनी परितृप्ति के लिए लूट पड़ा था .... जानती थी कि इस सबसे कुछ नहीं होगा .... तृप्ति का यह रास्ता भी नहीं है, इससे शायद आगे और भड़केगी, ... लेकिन निषिद्ध-आनन्द का स्वाद का .... या गोरी और सुन्दर लड़कियों की ओर से आती निःशब्द ललकार थी । जिसका जवाब निन्नी के आन्तरिक व्यक्तित्व को देना ही था । ...... और उन्हें वह जता देना चाहती थी कि रूप की प्रशंसा की चरम परिणति के फलस्वरूप तुम्हें जो " सुख " मिलेगा, मै भी उससे अपरिचित नहीं हूँ .... । उसने भी उस सुख को लिया और जाना है ...... । शायद उनके अधिक बार जाना

है .... अधिक व्यक्तियों द्वारा जाना है ...... ऊपर से भले ही निरीह, बेचारी और कुरूप दीखती हो ..... लेकिन निन्नी समझती सब है और उन्हें वहाँ भी ललकार सकती है ।"[1]

आगे यौन विसंगतियों का जैसा वर्णन-निन्नी के परिपेक्ष्य में राजेन्द्र यादव ने किया है उसे पढ़कर सहसा निन्नी के प्रति एक सहानुभूति की भावना पाठकों के हृदय में जागती है । जैसे कि वह महसूस करती है " पहले चुम्बन के समय बेजल ने महसूस किया होगा कि उसने सन्ध्या को नहीं, निन्नी को चूमा है, तो उठती उबकाई से उसका चेहरा किस तरह विकृत हो उठा होगा .... इसे उसने बहुत ही साफ-साफ अपने सामने देखा है ...... हो सकता है, उस क्षण दर्शन का चेहरा भी ठीक उसी तरह विकृत हो उठा हो .... दर्शन ने भी तो " ओ " करके बड़ी मुश्किल से गले तक उमड़े आते वमन को दबाया होगा ...... और बाहर जाकर गले में उंगली डाल डालकर हल्क साफ किया होगा ..... साबुन से होंठ धोए होंगे ...... ।"[2]

राजेन्द्र यादव के ऊपर विवेचित उपन्यास की नायिका निन्नी के मनोविज्ञान पर विचार करते हुए यदि हम अपने आस-पास के परिवेश में उपलब्ध निन्नी से मिलते-जुलते पात्रों के सामाजिक व्यवहार पर दृष्टिपात करें तो राजेन्द्र यादव का निन्नी के प्रति एप्रोच उनकी फ्रॉयडवादी दृष्टि व

---

1. अनदेखे अनजाने पुल : राजेन्द्र यादव - पृ. 108.
2. - वही - पृ. 136.

मानसिकता को व्यक्त करता प्रतीत होता है । उदाहरण के लिए हम कहें तो एक बदसूरत किशोरी का अपनी ओर समवयस्क लड़कों का आकर्षण न देखकर दुखी हो जाना तो स्वाभाविक है । पर भीड़ भरे बाज़ार में यौन विकृति के शिकार लोगों द्वारा की जाने वाली विभिन्न हरकतों से आनन्द प्राप्त करना बड़ा ही अस्वाभाविक लगता है ।

" एक इंच मुसकान " की अमला जो परित्यक्ता है, वह अपनी अतृप्त वासना को दस साल तक दबाए रखती है । उस एक अतृप्ति की क्षतिपूर्ति के लिए वह शिक्षा, संगीत, लिखना इत्यादि सब कुछ शुरू करती है । अमर रंजना अन्त तक शिक्षित होते हुए भी कुरूपता के कारण अपने भावनाओं को अभिव्यक्ति नहीं कर पाती । पर अमला के हालात अलग होने के कारण उसकी अतृप्त वासना अमर के सम्मुख अभिव्यक्त हो ही जाती है । इस वासना की पूर्ति के लिए वह किसी पुरूष का साथ हमेशा के लिए नहीं चाहती बल्कि सिर्फ एक मौन तृप्ति और सन्तोष की अनुभूति चाहती है । राजेन्द्र यादव ने बड़ी संयत भाषा में इस स्थिति का इज़हार अमला के मुख से ही इस प्रकार करवाया है ---

" समुद्र की इस चंचलता और अधीरता के बीच भी तुम शान्त कैसे रह सकते हो अमर ? निरूद्विग्न निर्विकार । ····· पागल बना देने वाली एक चाह अमला के मन में उठी कोई लहर इन दोनों को ऐसे ही बहा ले जाए उनको ढक दे, उन पर इस तरह छा जाए कि वे दोनों एक हो जाएं ······· एक, बिलकुल एक । ······ तुम्हारे सहारे

को जरूरत नहीं है अमर । अशक्त होकर भी आज अमला इतनी निर्बल नहीं कि उसे तुम्हारे सहारे की जरूरत हो ।" [1]

यहाँ अमर का हृदय अमला की ओर आकृष्ट होता है पर इस यौन सम्बन्ध में वह पूर्ण रूप से स्वच्छन्द होकर योगदान नहीं कर पाता क्योंकि उसके हृदय के किसी न किसी कोने में रंजना (उसकी पत्नी) के प्रति प्यार आज भी विद्यमान है ।

" एक इंच मुसकान " के अलावा राजेन्द्र यादव के " उखड़े हुए लोग " और " कुलटा " दोनों ही उपन्यास यौन-सम्बन्ध एवं उससे उत्पन्न विसंगतियों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । " कुलय " में मिसेज तेजपाल को कुलटा कहा ही इसलिए जाता है क्योंकि वह एक वायलिन मास्टर के साथ भाग जाती है । उसके भागने का कारण शिवमूर्ति के " भरतनाट्यम " लघु उपन्यास की नायिका के समान घर की हालत और पैसे की तंगी आदि नहीं है, बल्कि मिसेज तेजपाल मिस्टर तेजपाल से सेक्स की दृष्टि से अतृप्त रहती थी । इसी कारण शायद शुरू से अन्त तक मिसेज तेजपाल की हरकतों, रहन-सहन, पहनावे को देखकर पाठक को ऐसा महसूस होता है मानो वह हर पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करने या पुरुष समुदाय के केन्द्र बिन्दु में रहने के फिराक में है । हर जगह यौन विसंगति का कारण कुरूपता, दरिद्रता, परित्याग या पुरुषों में किसी प्रकार की कमी या कमजोरी नहीं बल्कि हर तरह सम्पन्न नारी में भी

---

1. एक इंच मुसकान : राजेन्द्र यादव - पृ. 247 - 248

यह विसंगति आ सकती है और विवाहित पुरुषों में किसी भी प्रकार की कमजोरी के न होने पर भी अपना उल्लू सीधा करने की दृष्टि से भी अवैध सेक्स सम्बन्ध हो सकता है । राजेन्द्र यादव के " उखड़े हुए लोग " उपन्यास में देशबन्धु जी, मायादेवी को ये बताए बिना कि वे विवाहित है, प्रेम करते है । देशबन्धु मायादेवी से सच्चा प्रेम करते है या नही पर मायादेवी तो इनके पीछे दिवानी हो जाती है । उनका विवाह भी एक बहुत ही अमीर आदमी से हो जाता है । विवाहोपरान्त भी वह देशबन्धु के साथ ही रहना अधिक पसन्द करती है । इतना ही नहीं अपने पति से पैसा ला-लाकर देशबन्धु को देती है और देशबन्धु का व्यापार बढ़ने लगता है । इतना ही नही वह स्वयं अपने पति को मार डालने से भी चूकती नहीं है । इस स्थिति को सूरज जी जो इस उपन्यास के एक प्रमुख सूत्रधार है उनके मुख से सुना जा सकता है ---

" रहस्य-वहस्य कुछ नहीं, बडी सीधी सी बात है लो आज बताए देता हूँ ······· असल में मायादेवी की कहानी इसके कमीनेपन और बदमाशी की कहानी है ······· मैंने तुमसे प्रेम किया है -- तुम्हारी आत्मा और गुणों से प्रेम किया है । तुम विवाहित हो, तो खैर कोई बात नहीं है । ···· विवाह मायादेवी का हुआ और ऐसे आदमी से हुआ जिसकी लाखों की सम्पत्ति थी, लेकिन वह पता नहीं किस ज्वर में अंधी थी कि कभी पति की चिन्ता नहीं की । कभी-कभी भाग आती और इस कमबख्त के यहाँ पड़ी रहती । ···· लेकिन इसने अब एक चालाकी चलनी शुरू कर दी । जब इच्छा होती दौरे का बहाना करके पड़ जाता कि व्यापार में घाटा हो रहा है ।

बिजनेस नहीं चलता, अब क्या किया जाए और मायादेवी पति के घर से ला लाकर देती । ठीक तो कुछ नहीं, लेकिन लोगों का अनुमान यही है कि बीस-पच्चीस लाख रुपया इस तरह ला-लाकर मायादेवी ने इसके यहाँ भरा । कभी-कभी तो हीरे पन्ने जड़े हुए गहनों से लदी आती थी और बिल्कुल सूनी कलाईयाँ लिए जाती । .... बेचारा मायादेवी का पति, जरा से जुकाम का शिकार था - और उसके लिए जो दवा दी गई, उससे वह खाट पर जा पड़ा । .... उस वक्त मैंने मौत से संघर्ष करते आदमी की ताकत देखी --- वह पाँच दिन का बीमार, कभी इधर सिर कर लेता था, कभी उधर और सात आदमियों के बस में नहीं आ रहा था । सिर पकड़ा गया, लेकिन उसने कस कर दाँत भींच लिये, एक की उंगली को किचकिचाकर काट लिया । मैं उस संघर्ष को देखकर सचमुच दहल उठा । एक बार तो उसने दवा फेंका दी, लेकिन दुबारा भरी गई और आखिर मुँह में चम्मच डालकर दवा पेट में पहुँचा दी गई - और यों दूसरे दिन वे चल बसे । ..... सो, यों तो मायादेवी के लिए ऐसा मरता है कि इसने अपनी पत्नी के लिए कभी चिन्ता नहीं की -- वह बेचारी टी॰बी॰ से तड़प-तड़प कर मरी । यह सब है, लेकिन औरत मात्र के लिए उसके भीतर भयंकर कमजोरी है ।"[1]

यह सेक्स की कमजोरी इस हद तक बढ़ जाती है कि देशबन्धु जी मायादेवी की बेटी पद्मा जो उनकी मुँहबोली बेटी है उसी से नाजायज सम्बन्ध रखने की कोशिश करता है । जिससे बचने के लिए पद्मा आत्म-हत्या करने को बाध्य होती है ।

---

1. उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव - पृ॰ 382 - 384

इसी उपन्यास के अन्य दो प्रमुख पात्र शरद् और जया भागकर आए है अविवाहित होते हुए भी अपने को पति-पत्नी कहते है । इस प्रेमी-युगल की स्थिति को देख कहीं भी वासना की अतिशयता दिखाई नहीं देती दोनों एक-दूसरे से बहुत प्रेम करने के कारण घर-छोड़कर भाग आते है ।

इस प्रकार चारों कोटियों के अन्तर्गत वर्ण्य विषयवस्तु पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज की प्रतिकूल परिस्थितियाँ जिसके प्रभाव से मूल्य-संघर्ष, सम्बन्धों में विघटन, अर्थाभाव जिसके नतीजे एक निरन्तर घुटन भरी जिन्दगी, अलगाव और अकेलापन के साथ-साथ यौन-सम्बन्ध में भी विसंगतियाँ आने लगी । इन विडम्बनाओं से मनुष्य जूझरहा है । फिर भी पूर्ण रूप से इन स्थितियों से उबर नहीं पाया है ।

3. ﴾ग﴿ स्त्री-पुरुष के बदलते सम्बन्ध :-

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों का विशेषकर सामाजिक उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य परम्परागत मूल्य मर्यादाओं और नव दित मूल्य-मर्यादाओं के बीच टकराव और उनमें से भी नवीन मूल्यों को अधिक मान्यता और परम्परागत मूल्यों को परोक्ष रूप से अस्वीकृति दिखाता रहा है । इस टकराव को व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के परिपेक्ष्य में हर स्तर पर देखा जा सकता है । फिर भी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को इस टकराव ने सर्वाधिक प्रभावित किया जाने पड़ता है ।

स्वातन्त्र्योत्तर काल के विशेष कर सामाजिक उपन्यासों में कहीं-कहीं पर तो परम्परागत-मूल्यों के विवाह को देखा गया है तो कहीं-कहीं उसका प्रयत्क्ष या परोक्ष रूप से निषेद भी हुआ है । जैसे मन्नू भण्डारी का उपन्यास 'आप का बंटी' में फूफी के माध्यम से स्त्री-पुरूष सम्बन्धों में दायित्व बोध एवं पातिव्रत के परम्परागत आदर्शों को ही महत्व दिया है तो दूसरी ओर उन्हीं का लिखा नाटक " बिना दिवारों के घर " में जीजी, अजित ‌‌(पति) और शोभा (पत्नी) के सम्बन्धों में आए दरार को तोड़ने की मंशा से परम्परागत आदर्शों का इज़हार करती हुई मीना और जयन्त के अलगाव का प्रसंग बीच में लाकर समझाना चाहती है । राजेन्द्र यादव के उपन्यासों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्होंने अपनी रचना-प्रक्रिया के आरम्भ में परम्परा को महत्व दिया है पर जैसे-जैसे हम बाद की उपन्यासों को देखते है तो महसूस होता है कि वे भी बदलते परिपेक्ष्य में बहुत से परम्परागत मूल्य को अप्रासांगिक समझते है । इसीलिए " सारा आकाश " ही उनका एकमात्र उपन्यास है जहाँ कहीं-कहीं परम्परा से जुड़े रहने की बात को हम देखते है, वहाँ भी कुछ पात्रों के माध्यम से परम्परा को काटकर आगे बढ़ते हुए ही देखा जा सकता है --

समर प्रत्यक्षत: में तो परम्परागत मूल्यों को महत्व देता हुआ दिखता है पर परोक्षत: परम्परा को मौका पाते ही तोड़ने के फिराक में है । नई-नई नौकरी मिली है तो पत्नी प्रभा के लिए एक नई धोती खरीद लाता है । भरे-पूरे संयुक्त परिवार में आज की तरह सीधे पत्नी के हाथ में थमाया नहीं जा सकता, तो वह माँ के हाथ में देता है --

" अम्मा, तुम्हारे लिए धोती लाया हूँ । ·· अम्मा बोली, हाँ हमें तो बहुत लाएगा । यों क्यों नहीं कहता कि अपनी बहू की लाया है ? " ······ जिसके लिए लाया है, उसे तू खुद क्यों नहीं दे देता ? मेरा नाम क्यों लगा रहा है ? ······ " ।

पर परोक्ष रूप में वह परम्परा के खिलाफ संयुक्त परिवार को तोड़ता हुआ प्रभा से कहता है -- " मैं एक भाई को अपने साथ रखकर पढाऊँगा । अमर को नहीं वह तो बदतमीज है । कुँवर सीधा है, वह रह भी लेगा । घर छोड़ कर अम्मा-बाबूजी तो हमारे साथ क्या रहेंगे, हाँ, कभी-कभी आया जरूर करेंगे । भाई साहब का भी बोझ कुछ हल्का हो जाएगा । "[2]

स्वातन्त्र्योत्तर काल में एक बात गौर करने योग्य है कि लोग परम्परागत मूल्यों से विशेषकर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के परिपेक्ष्य में भाग रहे है । तो कोई भी साधारण व्यक्ति यही सोचने को बाध्य होगा कि आज के स्त्री-पुरुष नई मूल्यों को अपनाना चाहते है । पर कहीं-कहीं ये भी देखा गया है कि आधुनिक स्त्री-पुरुष के बीच का सम्बन्ध इतना दुविधाजनक हो गया है कि वह परम्परागत मूल्यों की बातें तो दूर नए मूल्यों के सर्जन के प्रति भी प्रतिकूल दृष्टि रखता है और एक शून्य के अन्तर्गत मूल्यहीनता की स्थिति को प्राप्त करता है ।

1· सारा आकाश : राजेन्द्र यादव - पृ· 164·
2· - वही - पृ· 168·

राजेन्द्र यादव ने अपने " उखड़े हुए लोग " में इसी देश व्यापी मूल्यहीनता को स्त्री-पुरूष सम्बन्ध के परिपेक्ष्य में दिखाया है । जहाँ मायादेवी परम्परा के अनुकूल अपने प्रेमी देशबन्धु को भूलकर एक अमीर सेठ के साथ विवाह तो कर लेती है पर अपने पति के प्रति बफादार नहीं रह पाती और देशबन्धु के साथ अपना प्रेम जारी रखती है । यहाँ तक कि वह अपने पति को जहर देकर मारने और अपने पति की दौलत को देशबन्धु के नाम करने तक का कार्य करती है । पर अन्त में मायादेवी के स्थिति न प्रेमिका की है न पत्नी की, सिर्फ रखैल की रह जाती है । इस स्थिति को मूल्य हीनता के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है । जैसे ही मायादेवी इस स्थिति को समझ लेती है तो उनका झुकाव भी देशबन्धु की ओर कम हो जाता है क्यों कि देशबन्धु का मायादेवी के साथ सिर्फ स्वार्थपरक सम्बन्ध है । जब तक मायादेवी से दौलत ऐंठ पाया ऐंठता है, जिसके लिए अपनी पत्नी को भी बेमौत मारता है पर अपना उल्लू सीधा होने के बाद मायादेवी की ओर से उसका ध्यान हट जाता है और उसका एकमात्र केन्द्र-बिन्दु उसका व्यवसाय है और अय्याशी भरी जिन्दगी है । अपनी अय्याशी और स्वार्थ के लिए उसके पास एक दिन मायादेवी थी तो आज मायादेवी की बेटी पद्मा है । उसके लिए दोनों बराबर है । इस प्रकार की मूल्यहीनता की स्थिति को देख पाठकों के हृदय में दहशत, दुख, क्रोध हर चीज की एक मिली जुली भावना जागती है ।

आज सामाजिक जीवन की सारी संस्थाएँ, सम्बन्ध और संदर्भ बदल रहे है जहाँ नहीं बदले है, वहाँ टूट गए है, या उनसे बंधे व्यक्तियों को उन्होंने तोड़ दिया है, जहाँ संस्था या सम्बन्ध को परम्परागत ढंग से बनाए रखने का दुराग्रह होता है वहाँ संस्था और

सम्बन्ध भले ही बने रहे व्यक्ति मर जाते है । स्वातन्त्र्योत्तर काल में समाज की रूढ़िवादी प्रवृत्ति एवं मूल्यहीनता की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए नवीन मूल्यों को अर्जित किया गया है । इन नवीन परि - स्थिति जनित मूल्य ने सर्वाधिक स्त्री-पुरूष सम्बन्ध को प्रभावित किया है । हमारे भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-पुरूष सम्बन्ध कहने के साथ ही साथ पति-पत्नी का रूप ही सबसे पहले सामने आता है । पर स्वातन्त्र्योत्तर काल में शिक्षा एवं नाना प्रकार के खुलाव के कारण पति-पत्नी सम्बन्ध से इतर भी स्त्री-पुरूष सम्बन्ध बने । स्वातन्त्र्योत्तर काल में लोगों ने भारत जैसे परम्परावादी देश में भी विवाह-सम्बन्ध के नए अर्थ ढूँढने शुरू कर दिए । आज परम्परागत दृष्टि को झुठलाये जा रहा है । राजेन्द्र यादव प्रेमचन्द की विरासत में कहते है कि " विवाह मर्यादा है, जीवन की एक विशिष्ट और स्वीकृत पद्यति है । हम सभी कुछ परम्पराओं-मर्यादाओं के बीच रहने या उन्हें ग्रहण कर लेने की सामाजिक मजबूरी में रहते है । लेकिन किसी भी जीवन पद्यति में रहना और उसे स्वीकार करना दो अलग बाते है । नौकरी, महानगर या आज सारे देश के माहौल में जिन्दगी भर जीते रहने के बावजूद उन्हें समर्थन हम कहाँ दे पाते है ? हो सकता है हर पल शिकायते और विरोध पाले हुए हम एक विशेष जीवन-पद्यति को निभाते चले जाए, उसी में अपने छोटे-छोटे सन्तोष, सुकून भी तलाश करने की कोशिश करें, पर साथ ही उसे किसी भी स्तर पर समर्थन न दे । ऐसे जीवन को स्वीकार ही नहीं करना चाहिए का सपाट (सिम्पली फाइड) तर्क नौकरी और

विवाह में शायद लोग चलाने की बात सोचें भी लेकिन देश छोड़कर कहाँ भाग जाए ? .... " ।

उपरोक्त जीवन-शैली में " विवाह " की स्थिति को राजेन्द्र यादव लिखित " मंत्रविद्ध " उपन्यास में मोहन दा नामक एक पात्र के मुख से स्पष्ट सुना जा सकता है ---

" मैं बिल्कुल नहीं मानता कि विवाह आदमी की चरम-नियति है, वह आपके अनजाने किया गया हो या जानबूझकर वह एक ऐसी स्थिति भर है जो आपको सूट नहीं करती हो आप उसे तंग कपड़ों की तरह तह करके वापस रख दे । परम्परा के नाम पर हो या स्वयं आपके चुनाव के नाम पर अगर किसी भी स्थिति को सारे भविष्य की बलि चढ़ाकर ही निभाने की मजबूरी हो तो उसका मूल उद्देश्य ही खत्म हो जाता है और अगर सचमुच ऐसी ही चूहेदानी है तब तो मानव विकास के लिए इसे तोड़ डालना और भी जरूरी है ।" [2]

" मंत्रविद्ध " की एक अन्य पात्र सुरजीत जो आधुनिक शिक्षा प्राप्त नवयुवती है । वह तारक नाम के एक बंगाली नवयुवक जो आगे से विवाहित एवं तीन बच्चों का बाप है, से भागकर विवाह करती है । जबकि वह अपने इस विवाह के गैरकानूनी होने की बात को भली-भाँति

---

1. प्रेमचन्द की विरासत - राजेन्द्र यादव - पृ. 116.
2. मंत्रविद्ध - राजेन्द्र यादव - पृ. 101.

समझती है और स्वयं कहती है कि " तारक शादी-शुदा है और उसके तीन बच्चे है । इसलिए कानूनी तौर पर सारी बाते बड़ी उलझी हुई है ।"1

दरअसल यहाँ विवाह का कानूनी और गैर कानूनी होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है । बयहाँ तारक के घरवालों ने उसका जो पहला विवाह कराया है, वह उसे विवाह नहीं समझता बल्कि उसे थोपा हुआ सम्बन्ध मानता है । मोहन दा के कहे अनुसार तारक इस प्रथम विवाह को नियति समझ स्वीकार नहीं करना चाहता बल्कि चूहेदानी समझता है और उसे तोड़ डालना चाहता है ।

विवाह और पति-पत्नी सम्बन्ध के परिपेक्ष्य में नवीन मूल्यों के आगमन ने सिर्फ विवाह को ही नया अर्थ प्रदान किया हो ऐसा नही है । पर नए मूल्यों के कारण इस सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें भी घर कर गई है जहाँ पश्चिम का पूरा-पूरा प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है । " उखड़े हुए लोग " में शरद और जया इसके जीते-जागते उदाहरण है । घर से भागे हुए है । पर दोनो प्रेमी युगलों की स्थिति में जरा अन्तर है । तारक और सुरजीत गैर कानूनी ही सही फिर भी विवाहित है और तारक पहले विवाह को तोड़कर दूसरे, विवाह से जुड़ना चाहता है । किसी भी हालत में उसे विवाहित रहने में कोई हर्ज नहीं दिखता ।

---

1. मंत्रविद्ध - राजेन्द्र यादव - पृ. 37.

पर शरद और जया की मान्यता कुछ अलग है । शरद कहता है -- " प्रकृति को अनिवार्य मानकर दो इकाईयों के सामूहिक जीवन की सामाजिक स्वीकृति का नाम विवाह है । परिवर्तित सामाजिक रूपों में व्यक्तियों स्त्री-पुरूष के बीच को यह अण्डर स्टेण्डिंग भी बदलनी चाहिए । ······ किन्ही भी कारणों से जब तक समाज का यह रूप नहीं बदलता, तब तक व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता है कि इस मसले को भविष्य के समाज की दृष्टि से, आज शुद्ध व्यक्तिगत स्तर पर ही हल करें । ······· आज विवाह एक समझौता है, और इसके सिवा कुछ ही भी नहीं कर सकता । जब आपस में यह गुंजाइश नहीं रहेगी कि इसे चलाया जा सके या इस पर स्थिर रहा जा सके तो यह समझौता टूट जाएगा । आज से हम लोग एक-दूसरे के प्रति ईमानदार रहने का प्रयत्न करेंगे । ····· "[1] दोनो ही इसे समझौता का स्वस्थ स्वरूप देते है तथा इस सम्बन्ध में शोषण का विरोध करते है ।

" एक इंच मुसकान " में अमला का विवाहित जीवन का किस्सा कुछ और ही मोड़ लेता है । अमला परित्यक्ता है । परि - त्याग का कारण वह स्वंय नहीं जानती । वह अपने विवाह को एक बुरा सपना समझ कर बिल्कुल भूल गई है । एक दिन जब उसके पिता कहते है कि उसका पति उसे वापस ले जाना चाहता है तो वह साफ इन्कार करदेती है जबकि उसके पास कोई भी सहारे के लिए नहीं है यहाँ तक कि पिता भी नहीं, क्यों कि वे हमेशा अपने व्यापार में व्यस्त रहते है ।

---

1. उखड़े हुए लोग - राजेन्द्र यादव - पृ. 28.

राजेन्द्र यादव के इस " एक इंच मुसकान " उपन्यास में न जाने क्यों स्त्री-पुरूष सम्बन्ध में गौर तलक बात यह है कि कहीं भी, चाहे बेसहारा अमला हो, चाहे रंजना, कोई भी अमर का सहारा नहीं चाहता बल्कि अमला [पुरूष] मैत्री के कारण से और रंजना पत्नी के कारण से भी उससे सहारा नहीं माँगती । रंजना स्पष्ट कहती है कि " मैं तुमसे कुछ नहीं चाहूँगी ...... मैं तो सिर्फ तुम्हें एक ऐसा घर, एक ऐसा वातावरण देना चाहती हूँ जहाँ तुम सब ओर से निश्चिन्त होकर लिख सको । "[1]

दूसरी ओर अमला अपने पिता से साफ इन्कार करते हुए कहती है कि " मैं किसी से विवाह करना नहीं चाहती, किसी से भी नहीं । मैं इतनी निर्बल और निरीह नहीं हूँ कि जीवन बीताने के लिए कोई सहारा चाहिए । "[2]

यही बात अमला दूसरे ढंग से अमर से भी कहती है कि -- " तुम्हारे सहारे की जरूरत नहीं है अमर । अशक्त होकर भी आज अमला इतनी निर्बल नहीं कि उसे तुम्हारे सहारे की जरूरत हों । "[3]

---

1. एक इंच मुसकान - राजेन्द्र यादव - पृ. 53.

2. - वही - पृ. 93.

3. - वही - पृ. 248.

इस प्रकार हम स्पष्ट देखते है कि राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में स्त्री-पुरूष सम्बन्ध में वैविध्य है लेकिन गौर तलब बात यह है कि कहीं भी स्त्री पक्ष अधिकतर पुरूष से एक स्थायी सहारे की माँग नहीं करता फिर भी उसे पुरूष की सानिध्य चाहिए, चाहे मित्र के रूप में ही क्यों न हो, पर इसका कारण सुरेश सिन्हा ने " हिन्दी उपन्यास " नामक पुस्तक में स्पष्ट किया है -- " स्त्री-पुरूष सम्बन्धों की महत्व पूर्ण बात यह है कि उपन्यासकारों का ध्यान केवल सेक्स जनित परि - स्थितियों का चित्रण करने तक ही सीमित रहा है, जो एकांगी है। नए लेखकों ने प्राय: यह समझ लिया है कि आधुनिक भारतीय समाज से परम्परागत नारी पूर्णतया समाप्त हो गई और सभी में आधुनिक चेतना व्याप्त हो गई है। इसके विपरीत सत्यता यह है कि नब्बे प्रतिशत जनता को आधुनिकता का वास्तविक रूप अभी स्पर्श भी नहीं कर पाया है। फिर परम्परा और आधुनिकता के बीच अन्तर्द्वन्द्व तो अभी महानगरों में रहने वाली नारी के मन में भी है। अभी तक वह अपने को पूर्णतया मुक्त नहीं कर पाई है।"

स्त्री-पुरूष सम्बन्धों के परिपेक्ष्य में इस परम्परा और आधु - निकता के बीच चल रहे अन्तर्द्वन्द्व को राजेन्द्र यादव ने भी अपने " प्रेमचन्द की विरासत " नामक पुस्तक में स्पष्ट करते हुए कहा है कि " यदि नारी को " पत्नी " बनकर जीवित रहना है और पुरूष को सिर्फ " पति " ही नहीं बना छोड़ना है तो " सहने " और "बर्दाश्त करने " की शहीदाना मुद्रा से नहीं समझदारी और अण्डरस्टेण्डिंग के धरातल पर कुछ परिवर्तनों और छूटों को स्वीकार करना होगा। अजीब ट्रेजेडी है पति-पत्नी

के सम्बन्ध को कि नारी का जीवन साथी के रूप, में " विशिष्ट पुरूष " चाहिए जो औरों से " अलग " और " ऊँचा " हों, लेकिन पत्नी बनते ही उसे ऐसी मशीन चाहिए जो आदर्शपति भी हो और अलग और ऊँचा भी हो वह विशिष्टता को महिमा में भी जीना चाहती है और " आदर्श पतित्व " कोई ढोल भी उसे बर्दाश्त नहीं है .... स्थिति यह है कि पुरूष की जिन विशिष्टताओं से आकर्षित होकर नारी उसके निकट आती है, पत्नी बनकर पहला शिकार उन्हें बनाती है, कभी जानबूझकर कभी उस ओर से उदासीन रहकर .... पुरूष की दृष्टि से देखें तो खिड़की रोशनदान तक बन्द करके पत्नी को " सुरक्षित " रखनेवाले पति ने तो हालात को यहाँ तक स्वीकार कर लिया है कि उसकी पत्नी नौ घण्टे किसी और के दफ्तर में अजनबियों के बीच गुजार दें ...... "।

3. (घ) निष्कर्ष :-

राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के माध्यम से हमें ज्ञात होता है कि वे लेखन-क्रम में सिर्फ मध्यवर्ग तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि उन्होंने जहाँ पूँजीपति वर्ग आप को उच्चवर्गीय ही समझते है -- उनका भी वर्णन जहाँ किया हैं, वहीं निम्न वर्गीय या मजदूर वर्ग का भी वर्णन जहाँ किया है, वही निम्न वर्गीय या मजदूर वर्ग का भी वर्णन बड़े सजीव

1. प्रेमचन्द की विरासत : राजेन्द्र यादव - पृ. 116 - 118.

ढंग से किया है । राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में मजदूर वर्ग पहले बंधुआ मजदूरों के कटघरे से निकलकर कम्यूनिज़्म से प्रभावित होकर अपने अधिकारों के लिए लड़ते दिख पड़ रहे है । हमारा भारतीय समाज इन्हीं तीनो {उच्च, मध्य और निम्न वर्ग} वर्गों का सम्मिलित रूप है । अक्सर इन तीनों में से किसी भी एक वर्ग में किसी भी प्रकार की समस्या आए तो तुरन्त बाकी दोनों वर्ग भी शान्त नहीं रह पाते । इस प्रकार तीनों वर्गों में ही एक प्रकार की खलबली मच जाती है । जिसके फलस्वरूप हमारे सामान्य जीवन (civil life) विसंगतियों से पूर्ण हो जाता है । इन विसंगतियों का सीधा-सीधा प्रभाव स्त्री-पुरूष सम्बन्ध में जा पड़ता है । यही वह सम्बन्ध है जो कि शान्तिपूर्ण समाज की नींव है ।

चतुर्थ अध्याय

राजेन्द्र यादव के उपन्यास : शिल्प वैशिष्ट्य

राजेन्द्र यादव के उपन्यास : शिल्प वैशिष्ट्य

आधुनिक युग में कथा साहित्य की किसी भी विधा की सफलता के निर्णायक तत्वों में एक शिल्प भी है । दूसरे शब्दों में आज हम किसी भी रचना के शिल्पगत वैशिष्टय पर दृष्टिपात किए बिना नहीं रह सकते । शिल्प उपन्यास के क्षेत्र में कोटियों का निर्धारण भी करता है । उपन्यासों के वर्गीकरण के साथ ही उनका अभिव्यक्ति पक्ष ही शिल्प के अन्तर्गत विचारणीय बनता है । स्वातन्त्र्योत्तर युग में समाज का रुख बदला तो समस्याओं ने भी अपनी दिशा बदली और साथ ही साथ इनकी अभिव्यक्ति की शैली में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था । इसके कारण नूतन शिल्प वाले उपन्यासों का निर्माण भी हुआ । इस युग में जितने उपन्यास लिखे गए उन सबों में अधिकतर शिल्प गत साम्य

नहीं थे । उनमें रचना प्रक्रिया भाषा शैली, कथानक, चरित्र-चित्रण आदि को एक ऐसे नए ढंग से प्रस्तुत करने की लालसा थी । जिससे उपन्यास में नवीनता एवं अभिनव प्रयोग उपस्थित हो सके । किसी भी रचनाकार के लिए सशक्त शिल्प पक्ष उसकी सफलता की पहली सीढ़ी है । अब हम रचना प्रक्रिया के सैद्धान्तिक पक्ष को देखते हुए, राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के शिल्पगत वैशिष्ट्य की ओर दृष्टिपात करेंगे --

4. ﴾क﴿ रचना प्रक्रिया :-

विश्वप्रसिद्ध मनोचिकित्सक सिगमण्ड फ्रॉयड ने कहा है कि मानव में दो प्रकार की सहजवृत्तियाँ (Instincts) पाई जाती है :- 1. रचनात्मक (Constructive) और 2. विध्वसात्मक (Distructive).

सृजनात्मक कार्यों के अन्तर्गत लेखन कार्य अत्यन्त जटिल और संश्लिष्ट होता है । यह जटिल इसलिए बन जाता है क्यों कि लेखक स्वयं यह नहीं बता पाता कि "वह क्यों लिखता है ।" इसका कारण यह है कि वह किसी न किसी प्रकार की अविस्मरणीय घटना से प्रभावित होकर रचना करता है और कभी-कभी उस घटना के साथ लेखक मानसिक स्तर पर पूर्ण रूप से जुड़ नहीं पाता । फिर भी यह घटना उसके हृदय पर एक छाप छोड़ जाती है । जिसके तहत रचनाकार अपने अनुभव को अभिव्यक्ति देने के लिए अकुलाता है । इस अकुलाहट से मुक्तिपाने

के लिए एक कल्पना जगत में विचरण करने लगता है । यह रचना नई और उसकी अपनी होती है । जिसे विदेशी विद्वान William Faulkner ने इस प्रकार कहा है --

"The writers only responsibility is to his art. He will be completely ruthless if he is a good one. He has a dream. It anguishes him so much so he must get rid off it. He has no peace until then "(1)

परन्तु उपरोक्त उक्ति से सहमत होना मुश्किल है क्यों कि कलाकार को आत्माभिव्यक्ति की व्याकुलता ही सृजन का प्रेरणा देती हो ऐसा नही है । बल्कि आत्माभिव्यक्ति समष्टि से निरपेक्ष नही रह सकती है । जिसे स्पष्ट करते हुए रैल्फ फॉक्स नामक विदेशी साहित्य चिन्तक ने कहा है कि ---

"Art is one of the means by which man grapples with and assimilates reality. On the forge of his own inner Conscious-ness the writer takes the white hot metal of reality and hammer it out, refashions it to his own purpose."(2)

उनके कहने का तात्पर्य यह कि जीवन यथार्थ की अनुभूति रचनाकार में जितनी तीव्र और प्रबल होगी उतनी ही सृजन प्रेरणा भी बलवती होगी ।

---

(1) William Faulkner: Writers at work. First Series.

(2) Ralph Fox. The Novel and people: Pg. 112

इसी बात को अज्ञेय ने "शेखर: एक जीवनी" की रचना के संदर्भ में स्वीकार करते हुए लिखा है कि यह कृति --

" घनीभूत वेदना को केवल एक रात में देखे गए विज़न को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।" [1] हर सृजनात्मक लेखक को अपनी कृति को निर्मिति के समय ऐसा कोई " विज़न " होता हो यह बिल्कुल आवश्यक नहीं, किन्तु अच्छी कृति तभी होती है जब सृजन के समय लेखक अपने को उसमें पूरी तरह विसर्जित कर दे। राजेन्द्र यादव ने भी इस सत्य को स्वीकारते हुए रमेश गौड़ द्वारा " केन्द्र " पत्रिका के लिए साक्षात्कार क्रम में जगह-जगह पर रेखांकित किया है --

" मेरे विचार से यहाँ तक तो बात सही है कि हम ह्यूमन डैस्टनी से 'कन्सर्न्ड' या उसमें " इन्वाल्व्ड " है -- विश्व की कोई भी समस्या हमें प्रभावित कर सकती है चाहे वह नीग्रो समस्या हो या परमाणु परीक्षण लेकिन उस समस्या को अपने नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर जीना हमारे लिए तब तक सर्वथा सम्भव है, जब तक कि वह हमारे चेतना बोध का हिस्सा न बन जाए। .... जॉन मास्टर्स ने भारतीय समाज के बारे में 36 उपन्यास लिखने का प्रण किया था लेकिन उसके यहाँ यथातथ्य चित्रण तो खूब था मगर भारतीय समाज की आत्मा गायब थी। मैं यह नहीं मानता कि कोई " विजिटर "

---

1. अज्ञेय - " शेखर एक जीवनी " पहला भाग - पृ. 5.

कुछ महीने या वर्ष किसी देश में रहकर वहाँ के समाज के बारे में सच्ची कृति की रचना कर सकता है । ..... हाँ जिस यथार्थ का आप चित्रण करने जा रहे है, वह आपका अपना यथार्थ होना चाहिए । कोई भी अनुभव या यथार्थ या क्राइसिस कृतियों के माध्यम से चेतना का अंग नही बन सकता है । " [1]

विभिन्न पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के " यथार्थ की अनुभूति " के पक्ष में विचार जान लेने के बाद यहाँ एक बात कह देना जरूरी हो जाता है कि रचनाकार अपनी रूप विधायनी कल्पना द्वारा जिस जीवन जगत को पुर्नरचितकर कलाकृति या रचना को एक निश्चित स्पाकार देता है । उसकी प्रेरणा भले ही किसी विशिष्ट क्षण की अनुभूति हो या कोई दृश्य तथा स्थिति हो, वह जीवनानुभव अपने आप में विशिष्ट नहीं होता वरन् उस कोटि के सारे अनुभवों का सामान्यीकरण होता है । रचनाकार अपनी जिस विशिष्ट शक्ति से जीवन जगत की पुनरर्चना करता है और प्रकृति या विधाता द्वारा रचित उस दृश्यमान जीवन जगत के सामान्तर अथवा समतुल्य अपनी एक नयी और अलग सृष्टि की रचना करता है । उस शक्ति को कल्पना नाम दिया गया है । रचनाकार की कल्पना शक्ति सामान्य जनों की कल्पना शक्ति के मुकाबले अधिक उर्वरा दूरगामी और रचनात्मक होती है । इसी कल्पना शक्ति से वह अपने विश्रृंखलित तथा तारतम्यहीन जीवनानुभवों को अंकलित, व्यवस्थित

---

1. इस परिचर्चा का आयोजन श्री रमेश गौड ने मासिक " केन्द्र " के लिए किया था ।

कर अपनी अन्तर्दृष्टि से कृति के रूप में प्रतिफलित करता है । रचनाकार की अन्तर्दृष्टि से उद्भासित, नियन्त्रित और कल्पना प्रसूत यह मौलिक एवं नवीन उद्भावना ही उस की सृजन प्रक्रिया का मूलाधार होती है ।

सृजनात्मक साहित्य की अन्य विधाओं की रचना प्रक्रिया से उपन्यास की रचना-प्रक्रिया तत्वत: भिन्न न होते हुए भी स्वरूपत: कुछ भिन्न होती है । जिसके कारण को कॉड्वेल ने स्पष्ट किया है --
" - - - The Novel belongs to a restless age where things are always happening to people and people therefore are always altering.

अर्थात् उपन्यास में अन्य विधाओं की अपेक्षा इसमें युग जीवन या समकालीन जीवन यथार्थ के त्वरित परिवर्तनशील तत्वों को पकड़ने के लिए नित्य नूतन होते जाने और उनकी सफल अभिव्यक्ति के अनुकूल अपने रूप और शिल्प को बदलते जाने के लिए सर्वाधिक लचीलापन तथा नए-नए प्रयोगों के लिए अधिकाधिक स्वच्छन्दता है ।

परिवर्तनशील समय के साथ परिवर्तित होते रहने वाले मनुष्य तथा उनके समाज के जीवन यथार्थ की पुनर्रचना करने वाली उपन्यास विधा का जटिल एवं संश्लिष्ट होना स्वाभाविक है ? उपन्यास एवं कविता में अन्तर बताते हुए रघुवीर सहाय कहते है कि ---

---

" कविता का अनुभावन और उपन्यास का अनुभावन दोनों में अन्तर है । कविता निचोड है लेकिन उपन्यास रस भी है, गन्ना भी है और कुजड़ा भी है । कविता में रस महत्वपूर्ण है लेकिन उपन्यास में सब कुछ महत्वपूर्ण है । "[1]

जो उपन्यासकार किसी उत्कट प्रेरणा और अन्तरदृष्टि के अभाव में किन्ही बाह्य प्रयोजनों के वशीभूत रचना करता है तो वह सच्चा कलाकार नहीं बन सकता । जैसा कि रेबेक्का वेस्ट ने कहा है कि " यदि सृजन प्रेरणा उपन्यास का बीज है तो उपन्यास एक वृक्ष के समान है जिसका विकास उसी बीज से होता है जो अपने निजी और विशिष्ट नियमों से विकसित होता है, किन्तु उसका सम्यक ज्ञान सम्भव नहीं । "[2]

अन्तत: कह सकते है कि मानव जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है । कुछ लोग इसका आधार कल्पना को तो कुछ लोग अनुमान शक्ति को मानते है । यह आधार तिलस्मी ऐयारी एवं अन्य तोता मैना की कथाओं तक ठीक है । पर उत्कृष्ट उपन्यासों के आधार निश्चित रूप से यथार्थ में सृष्टि के असंख्य और अपरिमित व्यापारों से छाँटे हुए नमूने है । इस परिप्रेक्ष्य में डी·एच·लारेंस उल्लेखनीय है । जिन्होंने कहा है कि ---

---

1· रघुवीर सहाय - प्रविधि और अनुभव शीर्षक आलेख - " पूर्वग्रह " पृ· 139 ·

2· रेबेक्का वेस्ट - ए ट्रिटिस ऑन दी नॉवेल - पृ· 88·

" कथाकार के दिए गए जवाब पर विश्वास मत करो, कथा पर विश्वास करो । कथा से जो जवाब मिलता है वही सच है कथाकार जो भी कहे उस पर भरोसा मत करो ।"

रचना प्रक्रिया के संदर्भ में उपर्युक्त सैद्धान्तिक चर्चा के उपरान्त इस क्रम में राजेन्द्र यादव के उपन्यासों पर विचारने से स्पष्ट होता है कि उनकी रचना प्रक्रिया में अन्तर्मुक्त दृष्टि कहीं से भी भाववादी नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उपन्यासकार के रूप में राजेन्द्र यादव कोरे वस्तुवादी हैं । प्रगतिशील कहे जाने वाले ऐसे कवियों एवं कथाकारों की आज हिन्दी में कमी नहीं है जिनकी रचनाओं से गुजरते हुए किसी भी विवेकशील पाठक को यह सहज आभास हुए बिना नहीं रह सकता कि वैज्ञानिक समाजवाद को यान्त्रिक ढंग से कला के ढाँचे में फिट करने से कृति की रचनात्मकता को कितना नुकसान पहुँचता है । राजेन्द्र यादव की खासियत यह है कि समाजवादी विचारधारा में पूरी आस्था रखते हुए भी उन्होंने अपनी कृतियों में प्राय: कला पर विचार - धारा को हावी नहीं होने दिया है । सच तो यह है कि उनके उपन्यासों में समवेदना एवं विचार की द्विभाजकता से उत्पन्न फाँक बहुत हद तक नहीं दिखाई पड़ते । गजानन माधव मुक्तिबोध की शब्दावली लेकर यदि कहें तो उनकी कृतियों में ज्ञानात्मक संवेदन एवं संवेदनात्मक ज्ञान का कला के स्तर पर विलक्षण प्रस्तुति दिखाई पड़ती है ।

जैसा कि डी•एच•लारेन्स के हवाले से पहले कहा जा चुका है कि रचनाकार के वक्तव्य से कहीं ज्यादा प्रमाणिक उसकी रचनाएँ होती है । इस दृष्टि से राजेन्द्र यादव के सम्पूर्ण लेखन पर विचारने से यह देखा जा सकता है कि एक विचारक के रूप में वे जितने प्राणिव एवं ऊर्जावान है उतने ही कहानीकार के रूप में सम्भवत: सफल नहीं हो पाए है । कहना न होगा कि कहानी के बारे में उनकी समझ यदि मौलिक है तो दुनियाँ की अनेकानेक भाषाओं में रचित कहानियों का उन्होंने गहन अध्ययन भी किया है । जहाँ तक उनके उपन्यासों का सवाल है । उनमे से कोई निश्चित रूप से हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में गिने जाते रहे है । वस्तुत: राजेन्द्र यादव जीवन की समग्रता को लेकर चलने वाले कृतिकार है । सम्भवत: इसलिए जहाँ जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर उन्हें रचना करनी होती है वहाँ वे उतने सफल नहीं हो पाते जितने की जीवनानुभवों के तमाम पहलुओं को एक साथ संयोजित करने में सफल होते है ।

4• ﴾ख﴿ कथा योजना :-

राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में कथा निर्माण की प्रक्रिया कहाँ से शुरू हुई और किस प्रकार से आगे बढ़ी, इसे देखने से पहले उनकी रचना दृष्टि को देखना जरूरी हो जाता है । इसका कारण यह है कि कोई भी लेखक सामाजिक समस्याओं से प्रभावित होकर ही लिखना शुरू करता है । हर लेखक की अपनी एक अलग दृष्टि होती है ।

जिसके माध्यम से वह समस्या को देखता है । नए कथा-साहित्य के उदय काल में जो अनेकानेक विसंगतिपूर्ण स्थितियाँ भारतीय सामाजिक जीवन में व्याप्त थी उनमें से एक समस्या विस्थापित शरणार्थियों के लिए जगह की कमी थी अत: लेखकों के मन में जो भाव इस राजनैतिक समस्या के माध्यम से जागे, वह थी समूहगत सामाजिकता ।

लेकिन राजेन्द्र यादव के लिए न तो किसी से बदला लेने का हथियार रहा है और न ही अपनी गंदगी उगलने का माध्यम। कला की गरिमा का ख्याल न कर उसे ब्लैकमेलिंग के कोठे पर बिठा देना उन्हें कतई पसन्द नहीं । इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव ने आत्मवक्तव्य हादेते हुए लिखा है कि --

" अपनी व्यक्तिगत सीमाओं और कमजोरियों से हट पाने के लिए मैंने लेखन को लिया है । उसे अपना शौचालय बना डालने के लिए नहीं ...... मन्दिर भी नहीं बस वहीं इन दोनों के बीच की जगह । "[1]

जाहिर है कि यथार्थवादी और घोर आदर्शवादी झुकाव से बचते हुए यादव ने बीच का रास्ता चुना है जो उचित ही है ।

---

1. प्रेमचन्द की विरासत : राजेन्द्र यादव - पृ॰ 62॰

राजेन्द्र यादव की कथा यात्रा का अध्ययन दो सोपानों के अन्तर्गत किया जा सकता है -- §क§ पूर्वार्ध §ख§ उत्तरार्ध या परवर्ती कथा-साहित्य।उनकी पूर्वार्ध की रचनाओं में स्मृति के साथ-साथ अपने परिवेश को समझने की कोशिश बहुत साफ है । अपने आस-पास ही संदर्भ खोजने की कोशिश उनकी अधिकतर रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देती है । शुरू में उनकी रचनाओं में, जनसाधारण से जुड़ने की कोशिश मिलती है । इनमें घटनाएँ कथा का बड़ा हिस्सा है । परन्तु उत्तरार्ध या परवर्ती काल की रचनाओं में पूंजीपति, मध्य एवं निम्न वर्ग तीनों वर्गों की समस्याओं के बीच टकराव दिखाई देती है । कई जगह पर तो तनावपूर्ण सम्बन्ध तथा सम्बन्ध हीनता की स्थितियाँ भी दृष्टिगोचर होती है । घटना के स्थान पर चरित्र की मन:स्थिति प्रधान हो गई है । अधिक महीन और जटिल भावनाओं के उतार-चढाव, संवेदना के सूक्ष्म से सूक्ष्म रेशे, संक्रमण का छोटे से छोटा क्षण इनमें सम्मिलित है । उदाहरण के लिए राजेन्द्र यादव की "सारा आकाश" और " उखड़े हुए लोग " जैसे पूर्वार्ध के उपन्यासों में उन्होंने ऐसी समस्याओं और देशबन्धु जैसे झूठे नेताओं का वर्णन कर मानो तत्कालीन जनसाधारण से जुड़ने की कोशिश की है । इन उपन्यासों में स्पष्टत: घटनाओं की प्रधानता देखी जा सकती है । " सारा-आकाश " में समर का विवाह, प्रभा के साथ उसका सम्बन्ध, उसकी आगे पढ़ने की इच्छा, नौकरी करना और अनगिनत घरेलू समस्याएँ, घटनाएँ ही तो है । परन्तु उत्तरार्ध में लिखी उपन्यासों में मंत्रीविद्ध, कुलटा, एक इंच मुसकान और शह और मात जैसे उपन्यास है । जिनमें साफ तौर पर कोई न कोई घटना ही चरित्र को जन्म देती है और इन

घटनाओं का चरित्र पर प्रभाव जिसके तहत उनकी क्रियाएँ और प्रति - क्रियाएँ ही लाइमलाइट में आती हैं । आज चरित्रों की प्रतिक्रियाएँ पाठक को घटना की ओर ले जाती है । कहने का तात्पर्य यह है कि आज समाज में किसी भी इन्सान की मन:स्थिति और उसकी प्रतिक्रिया को देखकर हम यह विचारने के बाध्य होते हैं कि उसके जीवन की परिस्थितियाँ क्या थीं और क्या हैं जिसके फल स्वरूप वह एक विशेष प्रकार की मन:स्थिति को प्राप्त हुआ है । " मंत्रविद्ध " का तारक सुरजीत से विवाह कर मोहन दा के घर सदा उदास और डरा सा रहता है । तारक की इस मन:स्थिति की गहराई में जाकर हम पाते है कि उसने गैर कानूनी विवाह किया है जिस कारण वह किसी भी तरह से फंस सकता है तो दूसरी ओर उसके पास कोई काम-काज नहीं है और अपने मित्र के घर मुफ्त की रोटी तोड़ते हुए शर्म महसूस करता है । " कुलटा " उपन्यास की मिसेज तेजपाल जब पति के विरह में दुखी रहती है तो यहाँ तक बात गले के नीचे उतरती है पर उसका वायलिनिस्ट के साथ भागना बड़ा बेतुका लगता है । पर स्थिति की गहराई में जाकर हम पाते हैं कि वह अपने पति से शारीरिक रूप से सन्तुष्ट नहीं है और अब तक की पति-पत्नी के बीच एक तरफा ‡ मि॰तेजपाल ही पत्नी से बेइन्तहा प्रेम करते थे ‡ प्रेम ही था । कुल मिला कर हम आरम्भ से अन्त तक राजेन्द्र यादव की कथा-रचना की प्रक्रिया में कुछ विशेषताएँ पाते हैं जो निम्नलिखित है --

अच्छे लेखन के लिए सुनिश्चित दृष्टिकोण का होना आवश्यक है । अपने व्यक्तिगत अनुभवों को समाज से जोड़ने के बाद ही कोई भी लेखन सार्थक हो सकता है । राजेन्द्र यादव ने इसी बात को अपनी पुस्तक " उपन्यास : स्वरूप और संवेदना " में इस प्रकार से कहा है कि " स्वानुभूत अनुभव की प्रामाणिकता अलग से कोई मानी नहीं रखती । वह अपने समय की प्रामाणिकता के संदर्भ में ही सार्थक है ।" [1] इसी संदर्भ में टी॰एस॰इलियट को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा । उन्होंने भी लिखा है कि " भोगे हुए यथार्थ " और " रचे हुए यथार्थ " के बीच जितना अलगाव होगा उतनी ही कृति अच्छी होगी ।" [2] राजेन्द्र यादव इसके समर्थक है । वे मानते है कि वही अनुभूति की प्रामाणिकता ठीक समझी जा सकती है, जो सारी स्थितियों को विश्वसनीय बना सकने में समर्थ है । इसके अभाव की पूर्ति के लिए ही कुछ लेखक कुछ विशेष भावुकता का प्रयोग करते है । जिसे राजेन्द्र यादव रूढ़ समझते हैं । अनुभूति की प्रामाणिकता को और स्पष्ट करते हुए राजेन्द्र यादव अपनी पुस्तक " प्रेमचन्द की विरासत " में लिखते है कि " जिस देशकाल को हमने अपने अनुभव का हिस्सा नहीं बनाया है, वह हमारा कथा क्षेत्र नहीं हो सकता । यह सही है कि अनुभव की आत्मीयता और प्रामाणिकता के इस आग्रह ने नए कथाकार का क्षेत्र बहुत सीमित कर दिया, लेकिन यह भी सही है कि उसकी सामाजिक चेतना ने हमेशा व्यक्तिगत अनुभव

1· उपन्यास : स्वरूप और संवेदना : राजेन्द्र यादव - पृ· 206·

2· उपन्यास : स्वरूप और संवेदना से उद्धृत - पृ· 92·

को बृहत्तर सामाजिक अर्थों से जोड़ने की कोशिश की । प्रेम, सेक्स, आशा-निराशा के छोटे-छोटे अनुभवों के माध्यम से समय की ही बड़ी सचाई को पकड़ने और परिभाषित करने की दिशा में शक्तिशाली प्रयोग हुए । ...... विशिष्ट और विलक्षण व्यक्ति के स्थान पर, सामान्य जन की स्थिति और बदलती हुई मानसिकता को पकड़ना ही इन कहानियों का मूल कथ्य है । स्वतन्त्र होने और जनतान्त्रिक व्यवस्था के आश्वासन ने एक और तो भारतीय जन में अपने आपको राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों के बीच एक खुली और वृहत्तर दुनिया में पाया था तो दूसरी ओर स्वयं चुनाव करके अपनी नियत्ति और स्थिति को बदल सकने का नया विश्वास उसमें जागा था । मोटे रूप में इस सारे समय को अपनी अस्मिता (आइडेण्टिटी) की तलाश और निरूपण का काल कह सकते हैं । व्यापक स्तर पर जनमानस का अपनी स्थिति और अधिकारों के प्रति जागरूक होना उसका लक्षण था .... ।"[1]

सत्य कहने और सत्य की खोज के लिए प्रतिबद्ध लेखक को सबसे पहले अपना अन्तःनिरीक्षण तटस्थ निगाहों से करना चाहिए ताकि वह जान सके कि आज समाज में उसकी अपनी स्थिति क्या है ? कहने का तात्पर्य यह है कि वह अपनी निर्दिष्ट स्थिति में अपने ही लेखन से क्या चाहता है और वह अपने स्थितियों के अनुकूल उत्पन्न भावनाओं को यथार्थ के धरातल पर अभिव्यक्त करने में कितना स्वतन्त्र महसूस

---

1. प्रेमचन्द की विरासत : राजेन्द्र यादव - पृ. 100-101.

करता है । यहाँ प्रश्न उठता है कि आखिर रचना क्या ? अर्थात् रचना की आवश्यकता क्या है ? जिसे हम गजानन माधव मुक्तिबोध के शब्दों में जान सकते हैं -- " इसका एक उत्तर तो यह है कि उसके अन्तर्तत्वों के विश्लेषण से सौन्दर्य-सम्बन्धी किसी सामान्य सिद्धान्त पर आया जा सकता है । दूसरे भी उत्तर हो सकते हैं । उदाहरणत: जीवन के विस्तृत क्षेत्र को साहित्य में लाने के लिए अर्थात उसके प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करने के लिए हम प्रभावोत्पादकता के रहस्य को समझें । ······ कोई भी देश, व्यक्ति या प्रवृत्ति अपने-अपने इतिहास से जुदा नहीं हो सकती । ······· विश्लेषक का संवेदनात्मक उद्देश्य रचना-क्रिया का कोई तत्परक अन्वय-समन्वय करना, विश्लेषण करना नहीं था, वरन् एक विशेष प्रवृति की स्थापना करना रहता आया है। परिणाम यह हुआ कि ऐसे प्रयत्नों से सम्भवत: काव्य-क्षेत्र को, कला-क्षेत्र को विशेष लाभ नहीं हुआ । दूसरे शब्दों में जीवन के सुविस्तृत, वैविध्य और मूलभूत एकता के कोई विशिष्ट और संवेदनात्मक चित्रण का मार्ग ऐसे विश्लेषण ने प्रस्तुत नहीं किया । रचनात्मक प्रक्रिया के विश्लेषण से यदि सृजनशील साहित्य का मार्ग अधिकाधिक प्रशस्त हो तो कहना ही क्या है ।

रचना प्रक्रिया का तथ्यपरक विश्लेषण मेरे ख्याल से अत्यन्त कठिन है, दुष्कर है इसके कई कारण है । एक तो यह है कि रचना प्रक्रिया एक नहीं, अनेक है, विविध है, और उसकी विभिन्नता अत्यधिक है । रचना-प्रक्रियासृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है ····· यही बात

इस तरह भी कही जा सकती है कि क्या लेखक इस तरह लिखे कि अपनी कृति का हल्का-सा प्रभाव छोड़कर छुट्टी पा ले ? अथवा वह इस तरह लिखे कि कथ्य अपने पूरे तत्वों को मूर्तिमान करते हुए पाठक के हृदय में अपने प्रभाव के प्रभाव को घनीभूत कर दे, अर्थात उसके हृदय में भावना उत्पन्न कर दे ? निःसन्देह, कृति की आलोचना अथवा कृति का प्रभाव ग्रहण कवि के व्यक्तित्व का भी प्रभाव ग्रहण है । ......[1]

राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में कथा निर्माण की प्रक्रिया पर विचारते हुए जब हम उनकी रचना प्रक्रिया पर दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट होता है कि मानों उन्होंने अपने जीवन में तनावग्रस्त स्थिति का सामना तो किया ही है साथ ही वे अपने चारों ओर जिन लोगों के सम्पर्क में आए, वे भी किसी न किसी प्रकार के तनाव से होकर गुजरे हैं । इसका मतलब हर्गिज़ यह नहीं कि वे अपने उपन्यासों में सिर्फ तनाव जैसे नकारात्मक पक्षों का ही सजीव चित्रण करते हैं बल्कि उनके उपन्यासों के कुछ चरित्रो मे तो तनावरहित शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने की भी ललक दिखाई पड़ती है । " सारा आकाश " उपन्यास में शुरू से अन्त तक हर एक पात्र तनावपूर्ण जीवन व्यतीत करता हुआ दिखता है । राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के अधिकतर पात्र जहाँ तनावग्रस्त जीवन-व्यतीत कर रहे है वहीं कुछ पात्र तनावरहित जीवन भी व्यतीत करते है । इस तनावरहित पात्रों में " एक इंच मुसकान " का कैलाश, " शह और मात " की सुजाता, " अनदेखे अनजान पुल " में चित्रकार दर्शन, बेजैल, सन्ध्या इत्यादि है । इस परिप्रेक्ष्य में " उखड़े हुए लोग " उपन्यास का

---

1. मुक्तिबोध रचनावली : भाग पाँच - पृ. 247 - 249
सम्पादक : नेमिचन्द जैन

देशबन्धु सर्वाधिक उल्लेखनीय है । वही सबसे अधिक शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है, उसको तनाव के कारण " फिट्स " आना एक नाटक मात्र है । वास्तव में वह झूठे तनाव के प्रदर्शन से अपना उल्लू सीधा करता रहता है ।

जब जीवन का एक पक्ष दुखमय होगा तो दूसरा पक्ष निश्चित रूप से सुखमय होना ही चाहिए । इस सुख और दुख अर्थात् दूसरे शब्दों में आज के परिप्रेक्ष्य में तनावपूर्ण और तनावरहित जीवन का सीधा-सीधा सम्बन्ध वक्त से है । इस सर्वमान्य सत्य को साहित्य में प्रस्तुत करना ही साहित्य की प्रासंगिकता है ।

स्वातन्त्र्योत्तर काल को " मोह भंग " का काल कहा गया है । इस " मोहभंग " की स्थिति का प्रभाव व्यक्ति की मनःस्थिति पर सीधा-सीधा पड़ा है । इसलिए कथाकार को अब कथा निर्माण की प्रक्रिया के क्रम में कई बार एक मनोवैज्ञानिक की भूमिका में भी देखा जा सकता है । चूँकि स्वातन्त्र्योत्तर काल में हमारी देश की समाजार्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ बहुत हद तक बदल गई है । इसलिए इस काल के रचनाकारों के द्वारा कथा-निर्माण की प्रक्रिया यदि पूर्ववर्ती रचनाकारों से भिन्न हो तो यह आश्चर्य जनक नहीं है । अबतक लेखकों के मस्तिष्क में अपने चरित्रों का एक पूर्वनिर्दिष्ट रूप था । पर आज देश की समस्त स्थिति विशेषकर सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के साथ ही पूर्वनिर्दिष्ट पात्र अपनी राह, एवं दिशा को मानो बदल रहा हो ।

आज के कथा साहित्य के पात्रों की जीवनशैली ही अलग है । वह " लघु मानव " के कटघरे में आ खड़ा हुआ है । आज उसकी स्थिति, महलों में नौकरी-चाकरों से घिरे वैभवपूर्ण जीवन से निकलकर सड़क-फुटपाथ, झोपड़ी और साधारण से मकान में आ गई है । जहाँ वह स्वयं किसी पूँजीपति की नौकरी चाकरी करता हुआ दिखता है इस बदले माहौल में मनुष्य की बदली हुई मनोवैज्ञानिक संरचना को समझना लेखक का सबसे पहला कार्य है । अन्यथा उसका लेखन प्रासंगिक नहीं रह जाएगा । राजेन्द्र यादव ने अपने प्रत्येक पात्र का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया है । उनकी " अनदेखे अनजान पुल " की कुरूप निन्नी का मनो-विश्लेषण सबसे अधिक स्वाभाविक बन पड़ा है । जैसे कि निन्नी अनुभव करती है कि आज तो कौआ बोल रहा था, कौआ बोलता है, तो प्रिय का सन्देश लाता है .... आज मेरा मन कहता है .... मन का यह हर बार की तरह नहीं है इसमें जरूर कोई नई बात है । .... हाँ, यह भी अपने आप को .... "।

" एक इंच मुसकान " का अमर रंजना से प्रेम करता है और विवाह के इरादे से भी पक्का है । पर आज स्त्री-पुरूष दोनों के शिक्षित और नौकरी करने से पुरूष कुछ असुरक्षा महसूस करता है । क्यों कि काम-काजी महिलाओं के पतियों की पारिवारिक जिम्मेदारियाँ प्राय: बढ़

---

1. अनदेख अनजान पुल : राजेन्द्र यादव - पृ. 74 - 75.

जाया करती हैं । जिस कारण पुरुष निश्चित नहीं हो पाता कि वह अपने करियर में जो कुछ करना चाहता है कर पाएगा या नहीं । यही स्थिति अमर की भी है ।

राजेन्द्र यादव के कुछ पात्रों के वर्णन में कुछ अस्वाभाविक मनोवैज्ञानिक पक्ष भी दिख पड़ता है । इसका जीता-जागता उदाहरण 'एक इंच मुसकान' की अमला है । जो परित्यक्ता है । ऐसी स्थिति में राजेन्द्र यादव ने अमला के स्त्रियोचित मनोविज्ञान को सम्पूर्ण रूप से झुठला दिया है अमला अमर से कहती है कि " तो पति की कमी क्या दुनियाँ में कोई पूरी कर ही नहीं सकता ? इस घटना के बाद ही मैंने पढ़ाई की, संगीत सीखा, चित्रकारी का भी .... यों समझ लो नई जिन्दगी पाई ।" [1]

आरम्भ से ही कथा-साहित्य का केन्द्र बिन्दु समाज रहा है । इसका मुख्य कारण ही सामाजिक जीवन का समस्याओं से ग्रस्त होना है । इन समस्याओं के मूल में राजनीति और अर्थ ही मुख्य रूप से देखे गए हैं । राजेन्द्र यादव के उपन्यासों से ऐसा लगता है मानो मध्यवर्गीय व्यक्ति को देश के राजनैतिक घटनाक्रम से जोड़ने वाले तन्तु टूट गए, जिस कारण उनके उपन्यासों में सच्चे राजनैतिक यथार्थ की जगह घर-परिवार और प्रेम सम्बन्ध ही ज्यादा देखे जा सकते हैं । राजेन्द्र यादव स्वयं इस बात को स्वीकारते हुए कहते हैं कि 'इसलिए नए कहानीकार ने देश के

---

1. एक इंच मुसकान : राजेन्द्र यादव - पृ॰ 25.

बदलते राजनीतिक जीवन पर लिखना पसन्द नहीं किया । यदि किया भी तो केवल पृष्ठभूमि के रूप में ।"[1]

"उखड़े हुए लोग" में राजेन्द्र यादव ने हमारे समाज के उखड़े हुए लोग (uprooted class) के जीवन की विभीषिका को दिखाया है । पर इस विभीषिका का कारण राजनीतिक एवं आर्थिक ही है पर राजेन्द्र यादव ने देशबन्धु के जरिए इन स्थितियों का सिर्फ पृष्ठभूमि के रूप में प्रयोग कर दोयम दर्जा ही दिया है । इनके अन्य उपन्यासों में हम राजनीति को नहीं देख सकते शायद इसका कारण राजेन्द्र यादव इसे बहुत ही नीरस और रूखा विषय मानते है ।

इस प्रकार राजेन्द्र यादव की रचना-प्रक्रिया से गुजरते हुए हम उनकी विभिन्न मन:स्थितियों तथा उन मन:स्थितियों के रचनात्मक प्रयोग को जगह-जगह व्यक्त होता हुआ पाते है । मन:स्थितियाँ बदलती रहती है और अन्तत: लेखक के व्यक्तित्व का निर्माण करती है । राजेन्द्र यादव के विविध उपन्यासों से जहाँ उनकी परिवर्तित होती मन:स्थिति का ज्ञान होता है, वहीं अप्रत्यक्ष रूप से उनका एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व भी हमारे सम्मुख उभरकर आता है । ऐसे में परिपूर्णता और कमजोरियाँ दोनों ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।

---

1. कहानी : स्वरूप और संवेदना : राजेन्द्र यादव - पृ. 58.

4. (ख) पात्र योजना :-

प्रत्येक युग एक समस्या के साथ सामने आता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है परिवर्तित होती हुई परिस्थितियाँ नई समस्याओं को जन्म देती है। जाहिर है ये नई समस्याओं का समाधान भी नया ही होगा। उदाहरणार्थ अगर मध्ययुग को लिया जाए तो आदिकाल से मध्यकाल तक के सफर में चाहे राजनैतिक परिस्थिति हो चाहे सामाजिक देश की स्थिति अत्यन्त सोचनीय थी। ऐसी परिस्थिति में साधारण जनता स्थिति को सम्भालने के लिए धर्म, भक्ति और ईश्वरीय शक्ति का सहारा न लेती तो और क्या करती ? यह मनुष्य की प्रकृति है कि भीषण कष्टदायक स्थिति में सबसे पहले वह ईश्वरीय शक्ति को ही अपना एकमात्र सहारा समझता है। जिससे कि कालान्तर में वह स्थिति को नाप-तोल कर, समस्या का कोई बेहतर समाधान ढूंढ़ सकने की हिम्मत जुटाता है। कहने का तात्पर्य है कि हर समय का अपना एक मुख्य और नियन्ता स्वर होता है, जैसे कि मध्ययुग का धर्म, भक्ति और आज का केन्द्रीय स्वर राजनीति है। राजेन्द्र यादव ने अपनी पुस्तक " प्रेमचन्द की विरासत " में इस स्थिति को साहित्य के परिपेक्ष्य में बड़े रोचक ढंग से समझाया है --

" बिना राजनैतिक चेतना के न आज साहित्य लिखा जा सकता है, न समझा जा सकता है ..... साहित्य को भी अपना आदमी इसी परिवेश से उठाना होगा, जो राजनीति द्वारा निर्धारित

होता है । हाँ, यह उसे खुद तय करना है कि उसे व्यवस्था की राजनीति के साथ होना है, या व्यवस्था बदलने को व्याकुल मनुष्य की राजनीति के साथ ...... बहरहाल उसे अपनी प्रासंगिकता और प्रामाणिकता इसी मनुष्य के हाथ मिलेगी । ...... जब साहित्य सही मानसिकता या सही अपनी को नियति से न जुडकर, उभरी संस्थाओं, व्यवस्थाओं या खुद अपने आपसे प्रेरणा लेने लगता है तो नकली, झूठे और अप्रामाणिक लेखन का जन्म होता है, ... पिछले बीस-पच्चीस वर्षों के साहित्य ने जो अचानक, समाज शास्त्रियों हो नहो है । कारण यह है कि अपने सम्बन्धों और संदर्भों में जीनेवाले आदमी का वह एक प्रामाणिक दस्तावेज़ है । आज के सम्पूर्ण समय के संघातों के बीच साँसे लेते मनुष्य की कुण्ठाओं आकांक्षाओं प्रयत्नों और हताशाओं को अगर हम इमानदारी और कलात्मक प्रभविष्णुता से आँक सके, तो हमें किसी शास्त्रीय प्रामा - णिकता इस रचना से तय करेगा ।"[1] एच·बी·लेथरोप अपनी पुस्तक " दी आर्ट ऑफ दी नावेलिस्ट " में इसी बात को निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत करते है ---

"It is the soil in which they grow, the atmosphere in which they breathe, the medium which sustains, envelops, nourishes and controls them, and determines their manner of being."(2)

1· प्रेमचन्द की विरासत : राजेन्द्र यादव - पृ· 21 - 22·
2· The Art of the Novel H B Lathrope: Pg - 200.

साहित्य के पात्रों के विषय में राजेन्द्र यादव के उपरोक्त शब्द सिर्फ किताबी नहीं है, उनके उपन्यासों में ये सारी बाते व्यावहारिक तौर पर सामने आई हैं। इसे उनके उपन्यासों के विविध पात्रों के माध्यम से प्रमाणित किया जा सकता है।

राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के पात्रों के विवेचन एवं विश्लेषण से पूर्व साधारण तौर पर पात्र योजना का उद्देश्य और उसकी प्रणालियों को देखना आवश्यक हो जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में फॉर्स्टर नामक अंग्रेजी कथाकार एवं विचारक की निम्नलिखित उक्तियाँ उल्लेखनीय है ---

"The Novelist ... makes up a number of word-masses roughly describing himself ... gives them names, and sex, designs them plausible gestures and causes them speak by the use of inverted commas and perhaps to behave consistently. These word-masses are his character." (1)

पात्र योजना के सवाल के साथ ही दो प्रकार के उपन्यासकार सामने आते है। इनमें से एक वर्ग के उपन्यासकारों का परिचय इतना व्यापक है और अनुभूति उतनी तीव्र कि उनके घनिष्ट परिचय वाले तो दूर, एक बार भी जो उनके सम्पर्क में आया वह उनके उपन्यासों के पकड़ के बाहर

---

1. Aspects of Novel : Forster Pg 44

न जा सकता । इनसे भी दो कदम आगे कुछ राजेन्द्र यादव जैसे उपन्यासकार है जो किसी से व्यक्तिगत स्तर पर एक बार मिले भी न हो, " विधुर " जैसे लोगों से किसी की हृदय बेधी जीवन गाथा सुन उस अपरिचित पात्र के आधार पर ही उपन्यास की परिकल्पना कर लेते है । जैसे कि राजेन्द्र यादव की " अनदेखे अनजान पुल " की निन्नी इसके विपरीत कई उपन्यासकार अपने पात्र एक सीमित घेरे में से चुनते है पर एक बार वे जिस क्षेत्र को अपना लेते है उसका कोना-कोना छान मारते है । आज की राजनैतिक -- सामाजिक परिस्थितियों ने मनुष्य के सम्मुख आकस्मिक घटनाओं को ला खड़ा किया है । जिसके लिए आज का मनुष्य तत्पर नही है । यही आकस्मिक और अप्रत्याशित घटनाएँ उसके लिए समस्या का रूप धारण कर लेती है । इसी लिए आज की रचनाओं में घटनाओं से अधिक चरित्र { आदमी } बन गया है । इसका दूसरा एक मुख्य कारण यह है कि आज से पहले मनुष्य घटनाओं को अपनी नियति समझकर उसके समाधान को प्रकृति के हाथो छोड़ देता था । जिस कारण घटनाएँ समस्या बनने से रह गई । पर आज आदमी बौद्धिक दृष्टि से इतना उभर उठ चुका है कि वह नियति को ज्यादा कुछ मानता ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण परिस्थिति का सर्वेसर्वा अपने आप को मानता है । उन समस्याओं को अपने ढंग से सुलझाना चाहता है और यही वह जगह है जहाँ वह तनाव और कुण्ठा में जकड़ जाता है । फलस्वरूप उसके हर कार्यक्षेत्र में जहाँ तक कि उसके नित्य - प्रति साधारण जीवन की प्रतिक्रियाओं में भी तबदीली दिखाई देती है । रचनाकार " मनुष्य " की इस स्थिति से सबसे अधिक प्रभावित हुआ है । उसने मनुष्य को " महामानव से उतारकर " लघु मानव "

के कटघरे में ला खड़ा किया है । जो कि अधिक प्रासंगिक होगा । क्योंकि यह तनाव और कुण्ठा एक आदमी को नहीं है बल्कि हर एक की समस्या है, सिर्फ रंग अलग-अलग है । पर निश्चित रूप से आज विपरीत मनःस्थितियों और उसे पैदा करने वाली स्थितियों के पोटेनशियाली (Potentiality) को नकारना असम्भव है । रचनाकार इन परिस्थितियों और मनुष्य की विभिन्न मनःस्थितियों को ही अपनी सम्भावित पात्र में बड़ी तटस्थता के साथ संयोजित कर देता है ताकि शब्द चेतना समुदाय को कोई भी सदर या उसकी कृति के अक्स मे अपना चेहरा साफ-साफ देख सके । पाठक वर्ग का हृदय जितना अधिक पात्रों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से उद्वेलित होगा, उतनी ही वह रचना श्रेष्ठ, प्रासंगिक और प्रामाणिक होगी । इस प्रकार पात्र-योजना आज की रचना में सर्वोपरि स्थान ग्रहण करता है जिसके अभाव में रचना निर्जीव हो जाती है । इसी महत्व को समझकर रचनाकार कहीं पात्रों की योजना अपने छद्म के शब्दों से, कहीं मूल्यों के टकराहट से कहीं अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से, कहीं स्वप्नों के विश्लेषण से, कहीं राजनीति के मंच के द्वारा, कहीं डायरी के माध्यम से तो कहीं प्रसिद्ध व्यक्तियों की उक्तियों के माध्यम से करता है । अब उपरोक्त आधार पर राजेन्द्र यादव की औपन्यासिक कृतियों की पात्र-योजना पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि उनके अधिकतर सभी पात्र शहर के ही है जो कि समाज के हर तब के (उच्च, मध्य और निम्न) से सम्बन्ध रखते है । राजेन्द्र यादव के कुछ पात्र असाधारण और अविस्मरणीय है । जिसमें "उखड़े हुए लोग " का देशबन्धु, सूरज जी,

मायादेवी, " अनदेखे अनजान पुल " की निम्मी, " एक इंच मुसकान " की अमला, " शह और मात " की मिसेज अर्पणा, " कुलटा " की मिसेज तेजपाल इत्यादि उल्लेखनीय है । ये सभी पात्र किसी न किसी प्रकार के असाधारण गुणों से युक्त है । " उखड़े हुए लोग " में देशबन्धु एक श्रेष्ट अभिनेता है । वह अभिनय तो एक "सादा जीवन उँच विचार " वाले " नेता भैया " का करता है । जो दुनिया भर के अनाचारों के खिलाफ आवाज उठाता है पर अन्त में पोल खुलने पर पता चलता है कि उसके जैसा कोई दूसरा अनाचारी और अत्याचारी इस दुनियाँ में ही नहीं । सूरज जी इस उपन्यास के एक प्रमुख सूत्रधार है जो जीवन में बुरे से बुरा दिन देख चुके है और अब देशबन्धु जी के पास काम कर रहे है जो कि देशबन्धु के रग-रग से वाकिफ है । वे मौका पाते ही अपनी नौकरी की चिन्ता किए बगैर निडर होकर देशबन्धु की असलियत उगल देते है । उन्होंने जीवन में इतनी विडम्बनाएँ हर क्षेत्र में सही है कि उनकी अनुभवी आँखों से कोई भी राज छुपा नहीं रह सकता । इसी कारण वे पहली नज़र में ही अमर और जया के अविवाहित होने की बात को भाप लेते हैं । इसके विपरीत मायादेवी देशबन्धु जी के प्रेम में पागल है । वे विवाहित है और उनकी एक बेटी भी है । पर वह सबकुछ भूलकर देशबन्धु के साथ इस हद तक प्रेम करती है कि वह अपने पति के खून में भागीदार रहती है । एक भारतीय सम्पन्न नारी जो अपने पति के सम्पत्ति को अपने जान से बढ़ कर मानती है और उसकी सुरक्षा और उसके सही प्रयोग की ही चिन्ता करती है । भारतीय नारी चाहे वह सम्पन्न हो, चाहे गरीब । पर वह अपने पति को परमेश्वर समझती है । इन सभी गुणों के विपरीत मायादेवी जहाँ पति के खून में भागीदार

रहती है । वहीं दूसरी ओर अपने पति के खून पसीने से जुटाए सम्पत्ति को देशबन्धु पर लुटाती है । वह किसी भी मोड़ पर यह सोचने को बाध्य नहीं होती कि देशबन्धु अपनी बिमार पत्नी को मरने को छोड़कर उसके साथ लगा हुआ है तो कल मायादेवी को भी तो किसी और के लिए छोड़ सकता है। अन्त में मायादेवी अपनी स्थिति को किसी रखैल से ज्यादा नहीं समझती फिर भी वह देशबन्धु के प्रेम में पागल रहती है । यह जानकर भी कि देशबन्धु जहाँ स्वार्थी है वहीं औरत उसकी कमजोरी है । वह एक पल के लिए भी अपनी खूबसूरत, जवान बेटी पद्‌मा के लिए खतरा महसूस नहीं करती और अन्त में पद्‌मा देशबन्धु की बुरी नजर के कारण आत्म हत्या करने को बाध्य होती है ।

" अनदेखे अनजान पुल " की नायिका निन्नी और " एक इंच मुसकान " की अमला का चरित्र भी विलक्षण है । जहाँ वह असाधारण निन्नी के परिप्रेक्ष्य में सकारात्मक है, वहीं अमला के परिप्रेक्ष्य में नकारात्मक है । जबकि दोनों ही किसी न किसी रूप में एक ही नाव के मुसाफिर है । निन्नी कुरूप होने के कारण पुरूष का सान्निध्य ग्रहण नहीं कर पाती और अमला परित्यक्ता है । निन्नी अपनी कुरूपता को जानते हुए भी स्वभावत: युवा हृदय स्त्रीयोचित्त मनोभावों को पाले हुए है । निन्नी दर्शन को अपने गुणों से इस हद तक जीतना चाहती है कि दर्शन अपनी प्रेमिका को भूल जाए । बैंजेल जब निन्नी को सन्ध्या समझ कर चूमता है तो निन्नी मन ही मन यह आशा लिए हुए है कि बैंजेल निन्नी के होठों की मिठास को पाकर सन्ध्या को भूल जाएगा । पर बहुत देर से निन्नी समझ पाती है कि यह सब विचार दर असल युवा हृदय का एक कुरूप लड़की

को सब्ज़बाग दिखाना मात्र है । पर उपरोक्त स्थितियाँ अपनी जगह पर ज्यों की त्यों हैं । निशी जैसे ही अपने जीवन की इस वास्तविकता से अवगत होती है कि उसके लिए पुरुष का सान्निध्य असम्भव प्राय है तो वह शुरू में तो जरा डिप्रेस अनुभव करती है । पर थोड़े ही समय से अपने दिमाग पर सन्तुलन पाकर अपना ध्यान जीवन में ऊपर उठने की ओर बढ़ाती है ।

अमला खूबसूरत है और एक सम्पन्न परिवार की परित्यक्ता है । इसका परित्याग सत्रह साल के उम्र में ही हो गया है । शुरू-शुरू में वह परित्याग के कारण बेशक पुरुषों के प्रति जरा नफरत की भावना रखती है पर कालान्तर में जैसे ही कोई आकर्षक और उसके अनुकूल मनः-स्थिति वाले पुरुष के सम्पर्क में आती है तो भी वह अपनी युवाहृदय की नाजुक भावनाओं को एक कृत्रिमता के साथ छिपाए हुई है। यहाँ राजेन्द्र यादव ने अमला के चरित्र-चित्रण में अस्वाभाविकता का प्रदर्शन किया है, अगर अमला के हृदय में अमर के प्रति एक प्रेम की भावना दिखती भी है, तो बहुत देर से यहाँ भी अमला के हृदय में प्रेम की भावना कम एक तृप्ति और सन्तोष की भावना ज्यादा दिख पड़ती है । कहने का तात्पर्य यह है कि साधारण तौर पर यह देखा जाता है कि एक परित्यक्ता जो प्रेम पाने और देने के लिए तरस जाया करती है वहीं अमला में वासना की भावना ही क्यों प्रबल है ? " शह और मात " की प्रिसेंज अपर्णा ने तो स्वयं विवाह को तोड़ दिया है । देखा जाय तो उसके जीवन में भी पिता-भाई के रिश्ते से ऊपर औरत के हृदय में पुरुष का जो नाजुक स्थान है, वह स्थान खाली है । अमला के हृदय में पुरुष के प्रति स्त्रियोचित

प्रेम के भाव न जगने और वासनात्मक प्रेम की जागृति के लिए उस पर तो उसका पति कहीं भी जुल्म ढाता हुआ नहीं दिखता, पर मिसेज अपर्णा के हृदय में पुरूषों के प्रति किसी भी प्रकार के प्रेम को भविष्य में जगाने लायक भाव हो उसके पति कुंवर सिंह नहीं रखते, क्यों कि मिसेज अपर्णा को महलों की चारदिवारी में बंदकर पति के नाना तरह के जुलम सहने पड़ते है।। दूसरी बात मिसेज अपर्णा के संदर्भ में देखी जा सकती है कि वह राजघराने से सम्बन्धित रखती है, आज स्वतन्त्र रहकर भी उसके ठाट-बाट वैसे ही है । ऐसी परिस्थिति में उनका किसी साधारण व्यक्ति के साथ जुड़ पाना भी असम्भव सा जान पड़ता है । इन सबों से दूर " कुलटा " उपन्यास में मिसेज तेजपाल तो एक वायलनिस्ट के साथ भाग जाती है । जबकि वह शिक्षित, खूबसूरत, सम्पन्न पुरूष की पत्नी और पति का हार्दिक स्नेह और प्रेम भी उसे प्राप्त है । इसके बावजूद उसका घर छोडकर भाग जाना उसके मानसिक असन्तुलन को ही दर्शाता है । पर राजेन्द्र नामक पात्र को उसका लिखा खत जब मिलता है तो स्थिति समझ में आती है कि मिसेज तेजपाल, मि॰ तेजपाल जो दिखने में तो काफी आकर्षक है फिर भी उनसे शारीरिक रूप से अतृप्त और असंतुष्ट है । वास्तविक स्थिति को समझकर भी हमारा समाज उसके प्रति सहानुभूति प्रकट कर उसे " कुलटा " की पदवी से मुक्त नहीं करता। यदि हम मिसेज तेजपाल को एक अतृप्त नारी मान भी ले तो यह कहना मुश्किल हो जाएगा कि मिसेज तेजपाल सही है या गलत ? और इस संदर्भ में एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य है कि क्या हमारा समाज अमला और मिसेज तेजपाल को वासना परिचालित कहना चाह रहा है ?

अप्रत्यक्ष रूप से राजेन्द्र यादव ने इन पात्रों के माध्यम से कुछ बुनियादी समस्याजन्य सवालों को हमारे समक्ष रखकर समाज की ज्वलन्त समस्याओं को सम्मुख रखा है ।

राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के कुछ पात्र कुण्ठित भी दिख पड़ते है । इनकी कुण्ठा का कारण यदि एक ओर हमारे समाज की कुछ परम्पराए और रूढ़ियाँ है तो दूसरी ओर ऐसे पात्रों के व्यक्तित्व स्वातन्त्र्योत्तर काल में एवं सोचने समझने के ढंग में निहित अन्तर्विरोध भी है । भारतीय शिक्षित और स्वावलम्बी होकर भी एक किंकर्त्तव्य विमूढ़ता से पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है । दूसरे शब्दों में, मानो वह दो नावों पर पैर रखे मुसाफिर के समान है । अधिकतर इस तरह के मुसाफिर डूबते हुए दिखते है । राजेन्द्र यादव के कुछ पात्र दो नावों पर सवार होकर कुण्ठा से भरी जिन्दगी जीते दिख पड़ते है । जिसमें सबसे पहला नाम " सारा आकाश " का समर और उसके पिता है । समर एक संयुक्त परिवार का पुत्र है । इस परिवार की आर्थिक हालत बहुत गिर चुकी है, जिस कारण बच्चों को उचित शिक्षा भी देना असम्भव हो गया है । पर समर शिक्षा प्राप्त कर अच्छी सी अच्छी नौकरी में जाना चाहता है । पर उसके पिता भी एक प्रकार के कुण्ठित मन: - स्थिति से ग्रस्त है । वे समर के विवाह में आए दहेज के पैसे से बेटी की शादी के लिए उधार को चुकाना चाहते है । जिस कारण वे समर के उज्जवल भविष्य की चिन्ता किए बगैर उसकी शादी कर देते है । समर मानसिक रूप से विवाह के लिए तैयार नहीं है और पत्नी को रोड़ा समझ एक कुण्ठाग्रस्त जिन्दगी जीने को बाध्य होता है । पिता समर के

भीविष्य के राह पर रोड़ा खड़ा कर सन्तुष्ट नहीं है । अपने छोटे पुत्र अमर जो दसवो में ही कई बार असफल हो चुका है और स्वयं अपने भीविष्य और रोजीरोटी की चिन्ता से ग्रस्त जीवन जी रहा है । पिता उसका भी विवाह दहेज के लालच में करने के लिए तुले है । अमर और समर दोनो ही आज के शिक्षित नवयुवक है जो इस प्रकार के विवाह का विरोध कर सकते है । पर ये हमारे समाज की परम्परा और रूढ़ि के समाने घुटने टेक देते है । हमारे परम्परा के अनुसार परिवार में बुजुर्ग की ही चलती है, जिसके खिलाफ कोई आवाज उठा नहीं सकता । पर दबी आवाज में दोनों ही विभिन्न संदर्भो में इस प्रकार की रूढ़िवादी परम्परा का विरोध करते है । इसी से मिलती जुलती ही स्थिति " मंत्रिविद्ध "उपन्यास के नायक तारक की है । जहाँ माता-पिता तरक का अपरिपक्वावस्था में ही विवाह कर देते है । जहाँ वासना की अतिशय ही ज्यादातर दिखती है । उस विवाह से वह तीन बच्चों का पिता भी बन जाता है । पर जब वह परिपक्वावस्था में पहुँचकर यह पाता है कि उसका यह विवाह सिर्फ परम्परा को निभाने के नजरिए से एक " अनमेल विवाह " बन गया है । तब तक वह सुरजीत के साथ विवाह कर कलकत्ता भाग जाता है । अब उसके सामने परम्परा की अस्वीकृति और आधुनिकता की स्वीकृति की दुविधा है । इस चक्कर में वह द्वितीय विवाह अपनी मनपसन्द लड़की से कर एक गैर-कानूनी काम कर बैठा है । इन स्थितियों से उत्पन्न तनाव ही है जो तारक के स्वाभिमान को तोड़ डालता है और वह सुरजीत के पिता के पास वापस जाने को बाध्य होता है । इस प्रकार की तनावग्रस्त स्थिति से आधुनिक मनुष्य इस हद तक कतरा गया है कि वह स्थितियों की

सम्भावना मात्र से कतरा कर पलायन करने को तत्पर हो जाता है । राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में भी इस प्रकार के कुछ पलायनवादी पात्र देखे जा सकते है । जिनमें " उखड़े हुए लोग " का शरद और जया, " एक इंच मुसकान " का अमर, " मंत्रीविद्ध " का तारक और " कुलटा " में मिसेज तेजपाल का नाम लिया जा सकता है ।

" उखड़े हुए लोग " का शरद और जया दोनों शिक्षित है । देशबन्धु के लिए हुए तनाव ग्रस्त माहौल में रहकर उनको अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने की शक्ति हो दब जाती है । अन्त में शरद और जया देशबन्धु के " स्वदेश महल " में होते अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाए बिना कतराकर पलायन करते हैं । हर क्षण उनके मन में यही भावना रहती है कि अब देशबन्धु औरों के समान उन लोगों के खिलाफ भी षड़यन्त्र का कोई जाल न बुन दें । " एक इंच मुसकान " का अमर आधुनिक युग की प्रतियोगिता से पूर्ण स्थिति में अपने " करियर " को इतना महत्व देता हो कि वह संवेदन शून्य सा बनकर रंजना की भावनाओं को ठेस पहुँचाता है और विवाह को करियर का शत्रु समझ अमला के पास भाग जाता है । वहीं " मंत्रीविद्ध " का तारक मंत्र से भिंधे हुए आदमी के समान सुरजीत के साथ विवाह तो कर लेता है पर उसके पिता के रोष का सामना करने की हिम्मत जुटा नहीं पाता और, अपनी रोजी-रोटी भी छोड़कर कलकत्ता भाग जाता है । यहाँ आकर भी उसके पिता का खौफ तारक के मन से नहीं उतरता जब यहाँ वह बेगार होकर मोहन दा के यहाँ पड़ा रहता है तो इस स्थिति से उत्पन्न

तनाव का सामना करने में असमर्थता महसूस करता है। वह इस तनाव से बचने के लिए वापस दिल्ली भागता है। " कुलटा " की नायिका जहाँ शारीरिक असन्तुष्टि को कारण बताकर वायलनिस्ट के साथ भाग जाती है वहीं मेजर तेजपाल के अनुपस्थिति से उत्पन्न अलगाव और अकेलापन की स्थिति में उसका तनाव और बढ़ जाता है। इसी कारण वह किसी के साथ भागने जैसा हास्यास्पद कार्य कर बैठती है।

राजेन्द्र यादव के उपरोक्त सभी पलायनवादी पात्र शिक्षित है। शिक्षित अर्थात् बौद्धिक रूप से परिपक्व इन्सान से इस प्रकार की हरकतों की अपेक्षा कम ही रहती है, क्योंकि वे बौद्धिक स्तर पर अन्य लोगों के मुकाबले ऊपर होने के कारण वे मानसिक असन्तुलन बनाए रखने में समर्थ होते है। फिर भी आधुनिक समाज की समस्याएँ अपना विकराल रूप लेकर इस हद तक असामने आई है कि शिक्षित लोग स्वयं ऐसी स्थिति से जूझ नहीं पाते। रेगिस्तान में पानी के भ्रम मे जिस प्रकार प्यासा भटकता है उसी प्रकार मनुष्य भी सुख और शान्ति की खोज में एक जगह से दूसरे जगह भागता फिरता है। पर एक विशेष बिन्दु पर पहुँचकर वह " मोहभंग " की स्थिति को प्राप्त होता है और उसे पताबचलता है कि यह भाग-दौड़ सिर्फ छलावा है जिससे प्राप्त तो कुछ होने वाला नहीं है। तब जाकर मनुष्य जीवन में एक स्थिरता महसूस करता है। " एक इंच मुसकान " का अमर और " अनदेखे अनजान पुल " की निन्नी इसी स्थिति में पाए जाते है। " एक इंच मुसकान " का अमर इस तरह के बंधन से मुक्त हो अपने लेखन कार्य में सफलता के चक्कर में इधर-उधर भटकता

रहता है । पर अन्त में वह रंजना से ही मिलता है । " अनदेखे अनजान पुल " की कुरूप निन्नी काफी समय तक अपने लिए प्रेमी और पति की आशा रखती है । पर अन्त में वह समझ जाती है कि यह सब झूठी दिलासाएं और छलावा है ।

इस प्रकार राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में विविध पात्रों के माध्यम से जीवन के विविध स्तरों के विविध पक्षों और व्यक्ति के जीवन के अन्तर्विरोधों, आर्थिक संघर्षों, विवशताओं, नैतिकता-अनैतिकताओं आदि का चित्रण हुआ है वहीं विभिन्न वर्ग के पात्रों के वर्गगत संघर्षों का भी बड़ा ही सजीव और यथार्थवादी चित्रण हुआ है, जिसके माध्यम से तत्कालीन जीवन की सम्पूर्ण गतिविधि अपने बदलते हुए रूप में उभर उठी है, और इन के सम्पूर्ण उपन्यास अनेक भ्रमजालों को तोड़कर नई प्राणवान वर्ग चेतना से मानव अनुभूति को अनुप्राणित कर देते हैं । इनके सभी पात्र अपने-अपने वर्गों के प्रतिनिधि चरित्र है, जिनके माध्यम से लेखक ने विवाह, प्रेम, अतृप्त वासना, व्यभिचार, शोषण, मजदूर, संघर्ष, राजनैतिक नेताओं की पोल-पोल, सताधारी पार्टी की पूँजीवादी समर्थक नीतियाँ, अपनी स्वार्थ सिद्धि में मनुष्य के घोर पतन आदि वर्तमान जीवन के अनेक रूपों का चित्रण किया है । इनसे अधिकतर उपन्यास व्यक्तिपरक पाए गए है, व्यक्तिवादी नहीं । कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें व्यक्ति को केन्द्र बनाकर जीवन की व्यापक समस्याओं का चित्रण हुआ है । जहाँ विभिन्न वर्ग विशेषकर उच्चवर्गीय लोगों की कुण्ठा ग्रस्त, अतृप्तजन्य अनुभूतियों का सजीव चित्रण हुआ है ।

4· {ग} भाषा-शैली :-

भाषा मानवीय अस्तित्व की स्वीकृति है । हेगेल ने मनुष्य के अस्तित्व और भाषा की पारस्परिकता के संदर्भ में कहा था कि " भाषा में संस्कृति यथार्थीकृत होती है । [1]

निश्चय ही संस्कृति के जन्म के साथ ही भाषा भी अपना स्वरूप ग्रहण करती आई है । यह प्रारम्भिक उबड़-खाबड़ शब्दों से मान सकते है कि जिन्हें उच्चरित कर आदिम मनुष्य ने अपनी आन्तरिक पीड़ा की अभि - व्यक्ति का माध्यम बनाने का प्रयास किया होगा । सैपिर से भी पहले बाभौस की पुस्तक " हैंड बुक आफ अमेरिकन - इण्डियन लेंग्वेज " में भाषा के विषय में कहा गया है कि " भाषा की खोज मनुष्य एवं उसकी दुनिया की खोज है ।[2] 20 वीं शताब्दी के आरम्भ का यह आश्चर्यजनक भाषा दर्शन है, जिसमें दावा किया जाता है कि भाषा मनुष्य का हथियार है । प्रत्येक युग के अपने जीवन तत्व होते हैं, इसलिए प्रत्येक युग की भाषा की अपनी संघटनात्मकता एवं संरचना होती है । भाषा संवेदना से अलग नहीं है । एम·क्रेमपेनकी अपनी पुस्तक" The Writers Creative individuality and the development of Literature " में लिखते है कि —

1· वीक्षा : शम्भूनाथ सिंह का लेख - पृ· 64·

2· वीक्षा : 77 में उद्धरित, वास्तव में हैंडबुक ऑफ अमेरिक इण्डियन लेंग्वेज : बाओस - पृ· 63·

4· (ग) भाषा-शैली :-

भाषा मानवीय अस्तित्व की स्वीकृति है । हेगेल ने मनुष्य के अस्तित्व और भाषा की पारस्परिकता के संदर्भ में कहा था कि " भाषा में संस्कृति यथार्थीकृत होती है । [1]

निश्चय ही संस्कृति के जन्म के साथ ही भाषा भी अपना स्वरूप ग्रहण करती आई है । यह प्रारम्भिक उबड़-खाबड शब्दों से मान सकते हैं कि जिन्हें उच्चरित कर आदिम मनुष्य ने अपनी आन्तरिक पीड़ा को अभि - व्यक्ति का माध्यम बनाने का प्रयास किया होगा । सैपिर से भी पहले बाओस की पुस्तक " हैंड बुक आर्फ अमेरिकन - इण्डियन लेंग्वेज " में भाषा के विषय में कहा गया है कि " भाषा की खोज मनुष्य एवं उसकी दुनिया की खोज है ।[2] 20 वीं शताब्दी के आरम्भ का यह आश्चर्यजनक भाषा दर्शन है, जिसमें दावा किया जाता है कि भाषा मनुष्य का हथियार है । प्रत्येक युग के अपने जीवन सत्य होते है, इसलिए प्रत्येक युग की भाषा की अपनी संघटनात्मकता एवं संरचना होती है । भाषा संवेदना से अलग नहीं है । एम·ग्रेमरेनको अपनी पुस्तक" The writers Creative individuality and the development of Literature " में लिखते है कि --

---

1· पोक्षा : शंम्भुनाथ सिंह का लेख - पृ· 64·

2· पोक्षा : 77 में उद्धरित, वास्तव में हैड्बुक ऑफ अमेरिक इण्डियन लैंग्वेज : बाओस - पृ· 63·

"The writers world outlook should be seen first and foremost as the way in which he sees and portrays the various phenomena of the world and the life around him, and as his attitude to them. There is no doubt that the artist's talent, lies in his ability to perceive what is going on in life more subtly and in greatly depth than the rest of us, an ability to feel and see that which remains unnoticed by others."(1)

उपरोक्त विवेचन का एक मात्र उद्देश्य यही है कि मनुष्य, संवेदनशील होने के कारण किसी भी सामान्य से ऊपर-नीचे की घटनाओं से प्रभावित होता है और अपनी भावनाओं को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति देता है, इससे स्पष्ट है कि साहित्य " भाषिक कला " है। इसी के साथ यहाँ और एक विषय पर विचार करना, अत्यन्त आवश्यक हो जाता है --- वह है "शैली "(style)साधारणतः किसी भी कार्य को करने कि विशिष्ट ढंग को शैली कहते है पर साहित्य के क्षेत्र में शैली शब्द का प्रयोग एक विशेष ढंग के " भाषिक संरचना " के

---

(1) The writers Creative Individuality and the development of literature: एम. ख्रापचेन्को · पृ० 8-9.

रूप में होता है। शैली सिर्फ भाषा की ही नहीं होती बल्कि विचार की भी होती है। जिसे विदेशी विद्वान न्यूमैन इस प्रकार से लिखते है --

"Style is thinking out into language."

इसी संदर्भ में रूसी विद्वान V. Turbin को उद्धृत करना अप्रा - संगिक नहीं होगा। वे अपनी पुस्तक 'Voprosy Literature' के 'what is the style of a work of Art' नामक अध्याय मे कहते है कि --

"Style is the word in its relationship to the image, the constant inter-action of images, and meanings that arises in the word in a poetic context."(1)

कहने का तात्पर्य यह है कि रचनाकार की भाषा-शैली से उसके अस्तित्व का अंदाजा लग जाता है क्यों कि जिस देश और समाज में वह जीता है, उन्ही स्थितियों के अनुकूल वह भाषा-शैली का प्रयोग करता है। जैसे सन् 1900 के आरम्भ से ही देश की स्थितियाँ इस तरह से बदली कि अब पद्यात्मक रचनाओं से यथार्थ चित्रण होना असम्भव सा जान पड़ा जिस कारण " गद्य " का विकास हुआ जो कि गूढ़ से गूढ़ विचारों की अभिव्यक्ति में भी सक्षम है। इस बात को रूसी विद्वान A. Grigarian ने इस प्रकार से कहा है ----

---

(1) Voprosy Literature · V. Turbin · पृ.: 133

"Style cannot be taken apart from artistic method, the artist's outlook or his personality, his understanding of the time in which he lives and national characteristics of his art — style is the closest unity of all these." (1)

शैली का सम्बन्ध सिर्फ व्यक्तित्व, विषय, विधा इत्यादि से नही बल्कि रचनाकार अपनी विशेष शैली के माध्यम से विषय, काल इत्यादि का यथार्थ चित्रण करना चाहता है । यह कार्य उसकी रचना की प्रासंगिकता और सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है । रूसी विद्वान A. Gregorian कहते है कि
"Style is an understanding of reality." (2)

भाषा और शैली दोनों का ही साहित्य के क्षेत्र में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि इन दोनों का शास्त्रीय अध्ययन भाषा विज्ञान और शैली विज्ञान में स्वतन्त्र रूप में किया जाता है । सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाय तो शैली विज्ञान साहित्यिक अध्ययन के दोनों पक्षों – कला पक्ष और भाषा पक्ष को अपने अन्तर्गत स्वीकार करता है । सिद्धान्त के स्तर पर यह माना जाता है कि भाषा व्यापार का केवल वह रूप

---

(1) The Problem of style in Art, Yerevan 1966, Pg 151 in Russian and in English by M. Krapchenko in his book The Writer's Creative : Pg 90.

(2) The Poetics of Ancient Russian Literature

ही शैली विज्ञान के क्षेत्र में आता है जो कलात्मक संवेग का परिणाम होता है । अत: वह अपने भाषिक चिन्तन में कला प्रसंग की उपेक्षा नहीं करता शैली विज्ञान कला-सामग्री के रूप में भाषा की अनिवार्यता पर बल देते हुए यह कहना चाहता है कि भाषा के आधार के बिना साहित्य सिद्ध ही हो नहीं सकता । भाषा-शैली के पारस्परिक सम्बन्ध तथा रचनाओं में उनके महत्व को जानने के बाद राजेन्द्र यादव की उपन्यासों में प्रयुक्त भाषा शैली पर हम विचार करेंगें । जिसके बिना उनके कथा संसार से सम्बन्धित यह चर्चा सर्वदा अपूर्ण रह जाएगी । राजेन्द्र यादव ने अपने कथा संसार में इस पक्ष को एक चुनौती के रूप में ग्रहण कर समाज से सम्बन्धित ऐसी रचनाएं प्रस्तुत किया हैं, जिसमें सामाजिक स्थितियों का ही विस्तृत वर्णन है । वैसे देखा जाए तो स्वातन्त्र्योत्तर काल में साहित्य में विशेषकर कथा-साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक विडम्बना कुण्ठाओं असंगतियों और विसंगतियों के चित्रण पर ही बल दिया गया है क्यों कि प्रत्येक सामाजिक किसी न किसी तनाव से होकर गुजर रहा है । जिसके लिए वह एक आश्वासन या दूसरे शब्दों में जिस किसी भी चक्रव्यूह में फंसा हुआ, उससे निकलने की राह चाहता है । ऐसी परिस्थिति में वह समकालीन रचनाओं की ओर न झुक कर और किस तरफ मुखातिब होगा और जैसे-जैसे स्थितियाँ बदलती है, समस्याओं का रूख भी बदल जाता है । तो नई स्थिति के वर्णन मे नई भाषा-शैली का प्रयोग जरूरी हो जाता है । नही तो भाव अपनी सम्पूर्ण स्वाभाविकता के साथ अभिव्यक्त होने में अक्षम होते है और साथ ही पाठक के मन में आशानुकूल प्रभाव डालने में भी विफल होते है ।

राजेन्द्र यादव की भाषा अत्यन्त प्रान्जल, सहज और सुलझी हुई है। उनकी उपन्यासों में भाषा के स्तर पर प्राय: क्लिष्टता नहीं है जिस कारण पाठक उसे बड़ी सहजता के साथ समझ पाता है। अपनी भावनाओं को यथा सम्भव उसके वास्तविक रूप में अभिव्यक्त करने के लिए रचनाकार को भाषा पर पूरा अधिकार होना चाहिए, शब्द भण्डार विस्तृत होने चाहिए। राजेन्द्र यादव इन सभी गुणों में बहुत हद तक खरे उतरते है। राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में हिन्दी के साथ-साथ उर्दू के ज्ञान पर जोर देते हुए अपनी " प्रेमचन्द की विरासत और अन्य निबन्ध " नामक पुस्तक में कहते है कि " भाषा के लिहाज़ " से भी व्याकरण, वाक्य-विन्यास और आधारभूत शब्द-भण्डार में दोनों कहाँ अलग है ? दुनियाँ की और किस भाषा में ऐसा है कि पूरा का पूरा पृष्ठ, कुछ शब्दों को छोड़कर हिन्दी और उर्दू का एक साथ माना जाए ? आज हम अपनी भाषा में बीस-तीस प्रतिशत शब्द अंग्रेजी के इस्तेमाल करते है, लेकिन न तो वह इस कारण अंग्रेजी मान ली जाती है, न हिन्दी से अलग कोई और (भाषा) सवाल शब्दों के प्रतिशत का नही, उनके प्रयोग और व्याकरण का है। हिन्दी और उर्दू के बीच कुछ शब्दों और (इज़ाफत तथा बहुवचन बनाने के) कुछ व्याकरण नियमों के अलावा और क्या अलगाव है, वह मेरी समझ में नहीं आता। इस लिहाज से किस विद्यार्थी को पुरानी अवधी, ब्रज, मैथिली, पंजाबी, राजस्थानी के शब्दार्थ, व्याकरण नियम देखने के लिए कोश-पाद-टिप्पणियाँ और परिशिष्ट नही पलटने पड़ते ? उर्दू के कोश भी तो उतने ही उपलब्ध हैं। वे भारतीय परम्परा के अंग नहीं है के आधार पर इतिहास के विद्यार्थी ने तो मुगल-मुसलमानी काल को अपनी पोथियों से नहीं फाड़ फेंका।"[1]

---

1. प्रेमचन्द की विरासत एवं अन्य निबन्ध - राजेन्द्र यादव - पृ० 50.

कहने का मतलब यह है कि उनके उपन्यासों में उर्दू शब्दों का बाहुल्य है । उदाहरणार्थ सारा आकाश के एक सन्दर्भ को ले सकते है — " बना रखा है कंजरों सा ला इधर ला मैं दिया सलाई लगा दूँ इन में रोज-रोज की इल्लत हो जाए ...... ।"[1]

इनकी भाषा में अंग्रेजी के साथ-साथ बंगला और पंजाबी का भी प्रभाव दिख पड़ता है । इनके अधिकतर पात्र हिन्दी बोलते-बोलते अंग्रेजी के शब्द का कभी-कभी तो पूरे-पूरे वाक्य का ही प्रयोग करते है । जैसे कि सारा-आकाश में प्रभा कह उठती है कि " दो दिन में तुम तो अच्छे से अच्छे सिनेमा ऐक्टर से भी ज्यादा ऐक्सपर्ट हो गए । ..... कभी सोचती थोड़ा सा सामान साथ लेकर सारे हिन्दुस्तान का पैदल " टूर " करेंगी, खूब विस्तार से अपनी डायरी लिखा करेंगी ।"[2]

इस तरह " एक इंच मुसकान " के अंग्रेजी प्रयुक्त कुछ संदर्भों को हम ले सकते हैं । " अमलाजी यों यह नाम भी आपकी वेशभूषा के साथ खूब फबता है, पर मन होता है कि आज आपका नए सिरे से नामकरण कर दूँ - श्वेताम्बरा, " मेजर कपूर ने कहा तो हर बात में अंग्रेजियत बघारने वाले मि॰धवन झिड़कते हुए बोले " डेम योर श्वेताम्बरा ! नाम ही रखना है तो स्नोहाइट रखें ।" ..... । एक क्षण रुककर

1· सारा आकाश : राजेन्द्र यादव - पृ॰ 81·

2· - वही - पृ॰ 120-121·

कैलाश ने पढ़ा " डांस विद द परसन, हूम यू लव ।" .... लेट माई ऐड एफेयर बी ए सीक्रेट ।" ।

राजेन्द्र यादव ने " मंत्रीविद्ध " को सुरजीत के संवादों में पंजाबी का स्पर्श दिखाया है । " उखड़े हुए लोग " " मंत्रीविद्ध " और " अनदेखे अनजान पुल " में बंगला का प्रभाव दिख पड़ता है । " अनदेखे अनजान पुल " में निन्नी का अपने भाई को दादा कहकर बुलाना, मंत्रीविद्ध में तारक के दोस्त मोहन को बंगालियों की तरह " मोहन दा " कहना और " उखड़े हुए लोग " में जया का शरद को दादा कहकर सम्बोधित करना बंगला के प्रभाव का द्योतक है ।

इन सब के अतिरिक्त राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में ध्वन्यात्मक शब्द § सारा आकाश में चख-चख § प्रतीक योजना, अप्रस्तुत योजना, अलंकार विधान नए उपमान, रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्य अंलकारों के साथ व्यंग्यात्मक उक्तियाँ, कहावतें, मुहावरें, सूक्तियाँ भी अत्यन्त सजीव बन पड़ी है । अगर राजेन्द्र यादव की एक व्यंग्यात्मक उक्ति को देखें तो वह जहाँ एक तरफ हँसाने का कार्य करती है वहीं जीवन की किसी न किसी वास्तविकता का भी उद्घाटन करती है । जैसे " उखड़े हुए लोग " में देशबन्धु शरद को कम्युनिस्ट पार्टी में काम करने वालों की वास्तविकता बताते हुए कहते है कि अगर रूस में बारिश हो तो भारत में कम्युनिस्ट छतरी तान लेंगे ।

---

1. एक इंच मुसकान : राजेन्द्र यादव - पृ॰ 124 - 125.

उनके कहने का तात्पर्य यह है कि भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी वैचारिक दृष्टि से दिवालिया है । वह हर छोटी-बड़ी नीति विषयक मुद्दो को लेकर उसकी परमुखापेक्षी है तथा रूस को सामाजिक-आर्थिक स्थितियों को ध्यान में रखकर वहाँ के लिए उपयुक्त सिद्धान्तों को बिना कुछ सोचे-समझे यान्त्रिक ढंग भारत के सन्दर्भ में स्वीकार कर लेती है । राजेन्द्र यादव ने अपने उपन्यासों में पात्रों के अनुकूल ही कहावतें, मुहावरों और सूक्तियों का प्रयोग किया है । उनका कोई भी शहरी पात्र किसी भी प्रकार की ग्रामीण मुहावरों का प्रयोग करता हुआ नहीं दिखाई देगा और उनका कोई भी ग्रामीय या ग्राम संस्कृति से आज भी जुड़ा हुआ पात्र शहरी वातावरण से प्रभावित व्यवहार नहीं करेगा । उदाहरण के लिए 'सारा आकाश' उपन्यास में समर के माता-पिता एवं परिवार के अन्य सदस्य इस परिप्रेक्ष्य में उल्लेखनीय है । इस बात से स्पष्ट है कि राजेन्द्र यादव अपने उपन्यासों में इस प्रकार की बेतुकी बातों से बचने का प्रयास करते है ।

शैली :-

आधुनिक युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी शिल्प - विधि शैली ही है । प्राचीन वस्तु को नवीन परिवेश में प्रस्तुत करना, मात्र शैली का ही कार्य है । यह उपन्यास की कोटियों का निर्धारण करता है । उपन्यासों के वर्गीकरण के साथ ही उनकी अभिव्यक्ति कला का स्पष्टीकरण शैली के माध्यम से होता है । स्वातन्त्र्योत्तर युग में शैली के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन घटित हुए है । जिनके तहत नूतन शैलियों का

अभिनव प्रयोग भी बड़ी सफलता के साथ हुआ है । जिस कारण नूतन शिल्प वाले उपन्यासों का निर्माण भी हुआ है । आधुनिक युग में शैली की नवीन अवधारणा कभी-कभी पश्चिम से प्रभावित जान पड़ती है । यहाँ कहना इसी लिए आवश्यक है क्योंकि राजेन्द्र यादव ने भी अपनी उपन्यासों में कुछ नवीन शैलियों का प्रयोग किया जो पश्चिम से प्रभावित जान पड़ती है । शैली की नई अवधारणा आधुनिक युग में पूर्व और पश्चिम दोनों के लिए उपयोगी साबित हुई है ।

शैली विज्ञान भाषिक चयन को नियन्त्रित करनेवाले तत्वों के आधार पर शैली के दो भेद बताता है -- बहिर्निष्ट ॥ एक्सटिंसिक ॥ शैली और अन्तर्निष्ठ ॥ इंटिन्सिक ॥ शैली । बहिर्निष्ट शैली से तात्पर्य रचना के उन उपादानों से है जो कृति के बाहर स्थित होते हैं । जिसकी भाषिक संरचनात्मक विशेषताओं का कृति से बाहर लाकर विश्लेषण अध्ययन होता है । इसके विपरीत अन्तर्निष्ठ शैली वह जहाँ रचना का उपादान कलात्मक संवेग होता है । यह उपादान रचना के अन्दर इस प्रकार स्थित रहता है कि अभिव्यक्ति के लिए इसे रचना के बाहर लाना असम्भव है । इन दो भेदो के आधार पर शैली विज्ञान भाषा की उस संभाव्य संरचना और अगाध स्त्रोत के अध्ययन के माध्यम से साहित्यिक कृति पर प्रकाश डालता है जो सम्प्रेषण व्यवस्था में संदर्भों से नियन्त्रित होकर प्रतिफलित होता है । यही कारण है कि वह भाषा के सामाजिक संदर्भों और सम्प्रेषण जन्य प्रयोजनों की उपेक्षा नहीं करता । इन सामाजिक संदर्भों और सम्प्रेषण जन्य प्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में ही शैली विज्ञान को कुछ

विद्वान समाज भाषा विज्ञान को एक उपशाखा मानते है । उपरोक्त दो (बहिर्निष्ट और अन्तर्निष्ट) प्रकारों के अतिरिक्त भी व्यास शैली, व्यंग्यात्मक शैली प्रतीकात्मक शैली, लाक्षणिक शैली, अटपटी शैली, क्लिष्ट शैली, चुलबुली शैली, उलटबाँसी शैली, भावुक शैली, सपाट शैली, आलंकारिक शैली को भी परम्परागत शैली प्रकारों में माना गया है । पर आधुनिक काल में विशेषकर कथा साहित्य की अनेक शैलियाँ है । उपरोक्त परम्परागत शैलियों का इन निम्नलिखित शैलियों के अन्तर्गत ही विवेचन हो जाता है । छोटे-छोटे अन्तर के कारण उनका अलग विश्लेषण आवश्यक नहीं जान पड़ता । शैली मुख्य रूप से पाँच प्रकार की होती है -- वर्णनात्मक शैली, पत्रात्मक शैली, आत्म कथात्मक शैली, डायरी शैली, मिश्रित शैली । इन उपरोक्त पाँच शैलियों के आधार पर राजेन्द्र यादव के उपन्यासों का विवेचन-विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि विभिन्न शैलियों के साथ-साथ उनकी भाषा में रचना के कथ्य अनुरूप समय-समय पर परिवर्तन आता रहा है --

वर्णनात्मक शैली में राजेन्द्र यादव " सारा आकाश " उखड़े हुए लोग " और " एक इंच मुसकान " उपन्यास को मुख्य रूप से रखा जा सकता है । यहाँ कुछ-कुछ जगहों पर वर्णनात्मकता के साथ आत्मकथात्मक शैली में जहाँ रचनाकार निर्बाधगति से कहानी कही जाती है वही उसे पात्रों की मनःस्थिति की तद्रूप प्रस्तुत करने के लिए विस्तृत कैनवास मिल ही जाता है, जिससे पाठक के साथ सम्प्रेषणीयता में कोई बाधा न पड़े । उपरोक्त तीनों उपन्यासों में राजेन्द्र यादव के वर्णन

अत्यन्त विस्तृत है । उदाहरणार्थ अगर " सारा आकाश " के समर या उखड़े हुए लोग " के शरद को देखा जाए तो दोनों की मानसिक स्थिति का इतना सजीव वर्णन मँहगाई के जमाने में घर की गिरती हुई माली स्थिति, विवाह और स्वयं के पैरों पर खड़े होने की इच्छाओं के बीच होने वाले संघर्ष और उससे पैदा होने वाली तनाव को देख तड़प उठता है क्योंकि कुछ हो न हो आज का प्रत्येक नागरिक इन में से किसी न किसी एक समस्या या तनाव का निश्चित रूप से शिकार है । " एक इंच मुसकान " में अमर और "सारा-आकाश " में समर की हालत भी बहुत कुछ मिलती जुलती है । दोनों ही अपने विवाह का जीवन में अमर उठने के मार्ग का रोड़ा समझते है । इन लोगों के वर्णन में राजेन्द्र यादव ने वर्णनात्मकशैली का प्रयोग तो किया है पर वर्णन बहुत ही सरल और सहज बन पड़े है ।

" एक इंच मुसकान " चूँकि एक सम्मिलित उपन्यास (राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी) है । इसके शैली पक्ष पर स्वयं मन्नू भण्डारी ने उपन्यास के अन्त में दिए अपने वाक्य में कहा कि " जहाँ तक सारे कथानक की अन्विति, गठन और प्रवाह का प्रश्न है, वहाँ भी शिथिलता का दोष हमारा नहीं - ऐसे प्रयोग से इससे अधिक की आशा रखना ही व्यर्थ है । हर अध्याय एक उपन्यास की क्रमबद्ध कड़ी कम और स्वतन्त्र कहानी का आरम्भ अधिक लगता है ..... कारण है, हम दोनों की नितान्त भिन्न शैली और भिन्न दृष्टिकोण और इसीलिए राजेन्द्र ने लिखा है कि अब तो शायद एक साथ पढ़ने वाले को यह दो साइज के

कैमरे में खींचे गए चित्रों का अलबम अधिक, एक सूत्रबद्ध फिल्म कम लगें।"[1]

"अनदेखे अनजान पुल" की कथा दरअसल विभु द्वारा राजेन्द्र यादव को बताई गई निन्नी की वास्तविक जीवन-गाथा है। जिस कारण यह आत्मकथात्मक शैली के साथ-साथ पत्रात्मक शैली की भी झलक देती है। विशेषकर जहाँ निन्नी दर्शन के साथ पत्र-व्यवहार में संलग्न रहती है। निन्नी की जीवन गाथा इस हद तक सजीव बन पड़ी है कि कोई भी कुरूप इंसान बेशक अपने रूप पर शर्म करता हो, पर इस उपन्यास को पढ़कर वह स्वयं दंग रह जाता होगा कि उसने जो कुछ अब तक महसूस किया, उसे शब्दों में किस प्रकार सजीव ढंग से ढाला जा सकता है?

इधर कुछ समय से लेखकों में एक महत्त्वपूर्ण बात देखी गई है कि वे अपने आस-पास के किसी परिचित की डायरी को बड़ी नाटकीयता के साथ उपन्यास के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिससे पाठकों को यह भ्रम हो कि यह डायरी स्वयं लेखक की है या किसी और की? वास्तव में डायरी का प्रस्तुतकर्त्ता उसकी स्वयं की डायरी न वास्तव में डायरी का प्रस्तुतकर्त्ता, उसकी स्वयं की डायरी न भी हो तो भी वह इस प्रकार का सस्पेंस पाठक के मन में पैदा कर आनन्द की अनुभूति करता है

---

1. एक इंच मुसकान -- राजेन्द्र यादव एवं मन्नू भण्डारी - पृ. 272.

या अपने द्वारा प्रयुक्त नए टेक्नीक (शैली) का प्रदर्शन करता है । राजेन्द्र यादव ने भी " शह और मात " उपन्यास डायरी शैली में प्रस्तुत किया है । उन्होंने सुजाता की डायरी को इतने रोचक ढंग से सामने लाया है कि पाठक यही समझता है कि यह राजेन्द्र यादव की ही डायरी है । सुजाता ने शायद आजीवन डायरी लिखी हो पर राजेन्द्र यादव ने पाठक को दृष्टि में रखकर सिर्फ 4। दिनों की रोचक घटना को ही लिया है ।

" कुलटा " और " मंत्रविद्ध " राजेन्द्र यादव की दो लघु उपन्यास है । जो लघु होते हुए भी मिश्रित शैली में लिखे गए है । जहाँ " मिसेज़ तेजपाल " की कथा राजेन्द्र की बहन सुनाती है तो वह अबाधगति से मिसेज तेजपाल की कथा का वर्णन करती जाती है । पर राजेन्द्र यादव ने " मिसेज तेजपाल " द्वारा लिखे गए पत्र के माध्यम से स्थिति को स्पष्ट किया है । उसी प्रकार " मंत्रविद्ध " में सुरजीत मोहन दा और उसकी पत्नी को उसके कलकत्ता पहुँचने तक की आत्म-कथा का वर्णन करती है ।

इन सभी शैलियों को अपनाते हुए राजेन्द्र यादव ने अपने पात्रों का मनोविश्लेषण करने का कार्य भी बडे धड़ल्ले के साथ किया है । उनका मनोविज्ञानिक दृष्टिकोण उन पात्रों के परिप्रेक्ष्य में अधिक यथार्थ और सजीव बन पडा है, जो " यौन वासना " द्वारा परिचालित है । इस मनोविश्लेषण पद्धति और उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हुए डॉ॰देवराज ने " शह और मात " उपन्यास के फ्लैप पर लिखा है कि --

" उपन्यास को नाटकोयता भी एक खास तरह का बौद्धिक मनोवैज्ञानिक विनोद करतो है ...... उपन्यास की नाटकोयता और रोचकता का एकमात्र रहस्य उसको मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एवं यथार्थ अनु - कारिता है .... उपन्यास का प्रत्येक पन्ना रोचक है । "[1]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि राजेन्द्र यादव के पात्र जहाँ सजीव है वहीं उनके पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषा शैलो भी अत्यन्त प्रांजल है । परिणामत: सारा वर्णन स्वाभाविक दिखता है । राजेन्द्र यादव को कथा-रचना को प्रक्रिया के दौरान जो भी परिवर्तन उनके कृतित्वों में परिलक्षित होते है दरअसल वे भारतोय समाज में हुए परिवर्तन को हो रचना के स्तर पर प्रक्षेपित करते है । जाहिर है कि इसमें स्थितियों के बारे में रचनाकार को अपनो समझ भी अनुस्यूत है ।

---

1. हिन्दो उपन्यास शिल्प - बदलते परिप्रेक्ष्य - पृ० 52.

उ प सं हा र

उ प सं हा र

19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय जीवन में जटिलताएँ बढ़ती गई। जिस कारण साहित्य दरबारी माहौल से बाहर निकलने को बाध्य हुआ। कहने का तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं है कि आधुनिक काल में पहले जैसी रचनाएँ बिल्कु ही बन्द हो गई हो, पर इस युग में सामान्य मनुष्य उसकी समस्याओं और सामाजिक विडम्बनाओं की ओर साहित्यकार का झुकाव बढ़ गया। आधुनिक युग के पूर्व तक समस्याएँ तो उभरी पर अंधविश्वास के आधार पर उन्हें दैवी कोप समझकर दैविक शक्ति के हाथों सौंप दिया जाता रहा, पर आधुनिक काल में इन्हें अन्ध विश्वास और दैविक शक्ति के हाथों छोड़ना असम्भव हो गया, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समस्या को देखना और उसका एक ठोस समाधान प्रस्तुत करना जरूरी हो गया। देखा गया है कि सामान्य जनता की पहुँच के अन्दर सिर्फ साहित्य ही वह जरिया था जिसके माध्यम से वह समस्या का पूर्णरूप से समाधान भले ही न दे सकें लेकिन कम से कम समस्या को बेहतरीन ढंग से सोचने की दिशा तो पा सकता था।

आधुनिक युग से पूर्व साहित्य का क्षेत्र कविता, नाटक इत्यादि तक सीमित होने के कारण वांछित ढंग से समस्या पर विचार करना सम्भव न हो पाया । 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में खड़ी बोली गद्य के विकास के साथ-साथ प्रेस का भी विकास हुआ और पाया गया कि गद्य में बड़ी से बड़ी समस्या को अभिव्यक्ति बड़े सहूलियत के साथ हो सकती थी । स्वातन्त्र्योत्तर काल " मोहभंग " का काल था, जहाँ समस्याओं का रुख भी बदल चुका था भाई-भतीजावाद, पक्षपात, भेदभाव, घूसखोरी जैसे विषयों पर कुठाराघात करना रचनाकारों ने जरूरी समझा । ये बातें हमारे समाज की ज्वलन्त समस्याएँ थीं, इन पर वैज्ञानिक ढंग से विचार होना जरूरी हो गया । भारतीय मूलरूप से भावुक प्रकृति के हैं, जिस कारण उनका मानवीय सम्बन्धों को बहुत अधिक महत्व देना स्वाभाविक है । पर स्वातन्त्र्योत्तर काल की परिस्थितियों का प्रभाव मानवीय सम्बन्धों पर पड़ा और भारतीय इस परिवर्तित दरारपूर्ण सम्बन्ध को गले के नीचे उतार नहीं पाए । जहाँ से समस्याओं ने एक विकराल रूप धारण करना शुरू कर दिया ।

आधुनिक युग में गद्य के विकास के साथ-साथ नई-नई विधाएँ (कहानी, उपन्यास, निबन्ध इत्यादि) भी सामने आने लगी । जिनमें इस प्रकार की गूढ़ समस्याओं के विस्तृत - विवेचन विश्लेषण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त विधा उपन्यास मानी गई । जब उपन्यास में समाज का वस्तुनिष्ठ अध्ययन आरम्भ हुआ तो " उपन्यास का समाजशास्त्र " जैसे विषय सामने आए । जिसके प्रणेता

पाश्चात्य विद्वान हिपोलाइत तेन माने गए । उनसे लेकर आज तक पश्चिम एवं भारत में अनगिनत विद्वानों ने " उपन्यास के समाज शास्त्र " पर काम किया है ।

इस मोड़ पर आकर रचना, रचनाकार, पाठक और समाज के बीच एक अन्तर्सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । चूँकि रचनाकार और पाठक दोनों ही सामाजिक है । दोनों ही अधुनातन समस्याओं से आक्रान्त है । सिर्फ अन्तर इतना है कि रचनाकार अपनी अभि - व्यक्ति के सामर्थ्य और वैज्ञानिक दृष्टि से पाठक के सम्मुख क्रमशः समस्या को वांछनीय ढंग से प्रस्तुत करता है और कुछ हद तक समाधान को दिशा भी निर्दिष्ट करता है । इस प्रकार साहित्य का रचनाकार, पाठक एवं आलोचक के साथ एक अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । आलोचक समाज और पाठक को दृष्टि में रखकर रचना के सकारात्मक और नकारात्मक पहलूओं को तटस्थ आलोचना कर रचनाकार को अपनी रचना को खामियों को ओर देखने को दृष्टि प्रदान करता है । हिन्दी साहित्य ही क्यों विश्व साहित्य में भी उपन्यासकार को ही अपनी रचना में सामाजिक समस्या को हर दृष्टि से विस्तृत विश्लेषण करने का मौका मिलता है ।

" उपन्यास : एक दर्दनाक उपसंहार " शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी उपन्यासों के रचना स्रोत पर विचारते हुए मृणाल पाण्डे ने लिखा है कि जिसे यान्त्रिक नागर सभ्यता के दबावों से हमारे पारम्परिक विराट-परिवार उस समय धीमे-धीमे धसक रहे थे और पारिवारिक सम्बन्धों का क्षेत्र भी अधिक संकुचित, अधिक इन्टेन्स, अन्तर्मुखी होता जा रहा था । उसका सहज प्रतिफलन इस काल के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है आगे उनका कहना है कि " सांस्कृतिक राजनैतिक बदलावों के चौराहे पर खड़े पाँचवे और छठे दशक में हमें उसका बचपन, झूठा-सच और बूँद और समुद्र जैसे अविस्मरणीय उपन्यास दिए । पर छठे दशक के अन्त तक आते-आते उपन्यास को यह समाज निहित ऊर्जा काफी कुछ चुकने लगी थी और वह मनोवैज्ञानिक गहराईयों में जाकर उसकी पूर्ति कर रहा था । द्रष्टव्य है कि लेखकों, कलाकारों और (मध्यवर्गीय) ऊँचे शिक्षित, बौद्धिक वर्ग के पारिवारिक तथा मनोगत धरातलों को ही इन उपन्यासकारों में से अधिकांश ने अपना विषय बनाया । इसी से कुछेक का कलेवर बड़ा होते हुए भी मूलत: उनके कैनवास छोटे हैं । पाँचवे और छठे दशक के सशक्त उपन्यासकारों में जो एक मध्यवर्गीय मन की गहरी पैठ और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की जटिलता के प्रति तलाशती संवेदनशीलता है, उसने कुछ दिन उपन्यास को जिलाए रखा । पर, वह ही सातवें दशक तक आते-आते एक किस्म की साहित्यिक सीढ़ी बन बैठी और एक प्रकार की वर्ग - दम्भी वर्णाश्रम व्यवस्था उपन्यास की मध्यवित्त हो जाती दुनियाँ में घर कर गई ।" (पूर्वाग्रह - 46 - 47, पृ० 44)

कहना न होगा कि राजेन्द्र यादव के उपन्यासों के संदर्भ में मृणाल पाण्डेय का उपर्युक्त मन्तव्य अर्धसत्य ही सिद्ध होता है । भले ही, आज राजेन्द्र यादव "न लिखने के कारणों " पर विचार कर रहे हों पर उनको औपन्यासिक लेखन का उपसंहार किसी प्रकार से दर्दनाक नहीं कहा जा सकता । वस्तुत: राजेन्द्र यादव को औपन्यासिक कृतियों में अद्‌भुत वैचित्र्य है, जिसे देखते हुए हम उनमें से कुछ को निश्चित रूप से हिन्दी ही नहीं बल्कि किसी भी भाषा को श्रेष्ठ औपन्यासिक कृतियों के मुकाबले रख सकते है ।

इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने उन्नीस सौ दो के अपने निबन्ध में लिखा है कि -- "प्रत्येक राष्ट्र को कभी न कभी आपात्तकालीन संकटों का सामना करना पड़ता है । पराधीन से स्वाधीन होते समय, जुलम और अत्याचारों को श्रृंखलाओं को तोड़ते समय, सामाजिक समस्याओं का समाधान खोजते समय, हर राष्ट्र को प्रयत्नों को पराकाष्ठा करनी पड़ती है । जब ऐसे प्रयत्न जारी होते है, तब यह बहुत जरुरी हो जाता है कि जब तक लक्ष्य सिद्ध नहीं होता तब तक समाज के मन में दृढ़ बनाने के लिए सरस्वती के वरद पुत्र समय-समय पर राष्ट्र में जन्म पाते है । अपनी प्रासादिक शैली में राष्ट्रीय विचारों और भावों को आवेशयुक्त अभिव्यक्ति का काम वे कलम के जादूगर और सिपाही करते है । "[1] भारतीय

---

1. मैनेजर पाण्डे : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका से उद्धृत - पृ. 283.

उपन्यास जगत के लिए सरस्वती के बरद् पुत्र के रूप में प्रेमचन्द का अवतरण हुआ । प्रेमचन्द के उपन्यासों की रचना का ऐतिहासिक संदर्भ यूरोपीय उपन्यासों से भिन्न है । प्रेमचन्द जिस समाज में जी रहे थे और रचना कर रहे थे उसमें सामन्ती व्यवस्था और मूल्यों का प्रभाव था, पूँजीवादी व्यवस्था का विकास हो रहा था और इन दोनों के ऊपर साम्राज्यवाद की गुलामी और शोषण का प्रभुत्व था । प्रेमचन्द ने पश्चिम के उपन्यासों में मौजूद इतिहास और उपन्यास के सम्बन्ध को पहचाना और हिन्दी उपन्यास को भारतीय जनता के ऐतिहासिक संघर्ष से जोड़ा उन्होंने अपने उपन्यासों में जनता के ऐतिहासिक संघर्ष की अभिव्यक्ति की । जिसमें उन्हें काफी हद तक सफलता भी मिली । जिसका प्रमुख कारण यह था कि प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में मध्यवर्ग भी है, लेकिन केन्द्रीय स्थान किसान-जनता की ही है । यहाँ किसानों का जीवन संघर्ष ही केन्द्रीय विषय है । जीवन में किसान जिस शोषण के शिकार थे, उस शोषण के पेंचीदे तंत्र उसकी जटिल प्रक्रिया और उसकी भयानक परिणति का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है । इसके साथ ही उन्होंने सामन्तवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरूद्ध किसान जनता के मुक्ति संघर्ष का भी चित्रण किया । प्रेमचन्द ने किसान जीवन को अपने कथा-साहित्य का केन्द्र बनाकर पश्चिम में प्रचलित उपन्यास की परम्परा से अलग रास्ता चुना एवं भारतीय उपन्यास की अपनी विशिष्ट यथार्थवादी परम्परा का निर्माण भी किया । किसान

भारतोय समाज का मेरुदण्ड पहले भी था और आज भी है । किसान जोवन से जुड़कर हो भारतोय उपन्यास को सच्चो भारतोयता विकसित होतो हुई दिखाई दो । पर अंग्रेजो शासन के प्रभाव स्वरूप औद्यो - गोकरण, विशेषोकरण के आविर्भाव ने लोगों को शहर को ओर जाने का रास्ता दिखाया।जहाँ प्रेमचन्द भी निसहाय एवं अक्षम हो गए क्योंकि होरो का बेटा " गाबर" स्वयं शहर की ओर प्रस्थान करता है । यहीं से हिन्दो उपन्यास को भारतोयता पर एक प्रश्नचिन्ह लग जाता है । इसी के साथ उपन्यास की यथार्थता तथा उसमें आधुनिकता को स्वोकृति और अस्वोकृति के साथ भी प्रश्नचिन्ह जुड़ जाते है ।

परिस्थितियों में निरन्तर नकारात्मक परिवर्तन होने के कारण उपन्यास को मौजूदा हालत पर विचार करना आवश्यक हो जाता है । एक लम्बे अर्से से हम सुनते आ रहे है कि उपन्यास ने अपना चोला छोड़ दिया है । फिर भी हम आज अनगिनत उपन्यास पढ़ते हुए इस दुविधा में पड़ जाते है कि आज हम उपन्यास के नाम पर जो कुछ पढ़ते है वो वास्तव में उपन्यास है या सिर्फ मृत उपन्यास को प्रेत-छाया मात्र है वैसे देखा जाएँ तो उपन्यास शुरू से हो तकलोफ में था । बेशक वह बाहर से फलता-फूलता दिखा पर अन्दर से एक खोखलापन भी बढ़ने लगा । गोविन्द मिश्र ने इस संदर्भ में लिखा है कि " हिन्दो में उपन्यास लेखन को दुनियाँ उतनो चुस्त-दुरुस्त नहीं दिखाई देतो जितनो कहानो या कविता को । पिछले कुछ वर्षों में हिन्दो कहानो, कविता का विकास अगर तेज दौड़ का आभास देता है,

तो उपन्यास का विकास उस गति का जो न मंथर है और न रूग्ण ..... सिर्फ साधारण .... लेकिन एक बात मैं बराबर महसूस करता हरहा हूँ -- वह यह कि हिन्दी उपन्यास की बात करते समय हम दो पहलुओं को अक्सर अनदेखा कर देते है - उपन्यास का सर्जनात्मक पक्ष और उससे ही जुड़ा हुआ भारतीय सामाजिक परिवेश ..... और ये दोनों ही महत्वपूर्ण है । "[1] इसका एक कारण तो यह है कि आज मनुष्य सिकुड़ कर " व्यक्ति " में बदल गया है पर समाज इस हद तक फैल गया है जहाँ व्यक्तित्व हीनता ही उसका संस्कार हो । दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि आज व्यक्ति का अस्तित्व ही मानों नहीं है । मनुष्य अपने अस्तित्व अर्थात् सेलफ की खोज में ही संलग्न है । इस अस्तित्व के खोने का कारण उसका ईगों या अहम है । जो उसमें इतनी प्रबल था कि वह सबकुछ से कुछ नहीं की स्थिति में आ गया है और अपने " सेल्फ " को पूर्णरूपेण खो चुका है ।

उपन्यास विधा के क्षेत्र में इस ठहराव के एक-दूसरे कारण को गोविन्द मिश्र इस प्रकार से दिखाते है --

---

1. पूर्वाग्रह - 46 - 47 अंक - पृ. 31.

" हम भारतीय लेखकों का व्यक्तित्व कुछ छोटा होता है भी । हमारी समाज व्यवस्था ऐसी है कि बचपन से ही हमारे संघर्ष तो खासे होते हैं, पर सुरक्षा की कोई न कोई चाहे जितनी कमजोर दीवार भी हो हमें बराबर उपलब्ध रहती है, जिसका सहारा हम चाहे तो ले सकते हैं । इस सुरक्षा के हम अभ्यस्त हो जाते हैं । ...... इन अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने के लिए कहानी ज्यादा माफिक बैठती है ।"

कहने का तात्पर्य यह है कि संक्षिप्त ढंग से उपरोक्त मनःस्थिति को कहानी जितनी सहूलियत से प्रस्तुत कर सकती है उतना उपन्यास नहीं । क्यों कि उपन्यास में एक बड़े फलक पर कथा का गठन और निर्वाह हमारे आड़े आता है । गिरिराज किशोर आड़े उपन्यास की मौजूदा ठहराव की स्थिति को देख कहते हैं कि --

" भारतीय उपन्यास को जितना मैं देख पा रहा हूँ वह उठता हुआ भवन है । कुछ दिवारें पूरी उठ गई है, कुछ उठ रही है, कुछ नींव से उभर आ गई है और कहीं-कहीं लिन्टर पड़ने की शर्तें पूरी हो चुकी है । उपन्यास की सीमा उपन्यास ही होता है । कभी-कभी लगता है कि वे किसी रुकावट को फाँदना चाहते हैं पर

---

1. पूर्वग्रह - 46 - 47 अंक - पृ. 32.

फाँदते-फाँदते रुक जाते है, पैर नहीं उठता । हिन्दी उपन्यास ने एक उछाल लिया था । प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर आदि अनेक उपन्यासकार थे जो फाँद लगा गए थे । फाँद जाने के बाद भी दूरी नापी जाती है । कोई उस रुकावट के पार नजदीक ही गिर पड़ता है, कोई दूर तक जाता है और कोई कूदकर फिर आगे बढ़ना शुरू कर देता है ।" [1]

उत्तरशती में हिन्दी उपन्यास लेख को जिन-गिने-चुने उपन्यासकारों ने अपने सामायिक कड़वे यथार्थ के रू-ब-रू खड़ा करने का महनीय कार्य सम्पादित किया, उनमें राजेन्द्र यादव भी एक है । करीब पन्द्रह वर्ष पहले " उपन्यास का नाभिश्वास " शीर्षक निबन्ध में उपन्यास के भविष्य को लेकर जब यह चिन्ता प्रकट की गई कि " क्या उपन्यास की साँसे चल रही है ? " इसका जवाब राजेन्द्र यादव तथा उनके समकालीन उपन्यासकारों ने अपने सशक्त उपन्यासों के माध्यम से दिया । यह रचनात्मक जवाब ही मानों उपन्यास के लिए एक नई शुरुआत थी । इनके योगदान से मृतप्राय: उपन्यास विधा की साँस इस तेजी से चलने लगी कि वह स्वस्थ मानव के समान गत्वर एवं अपने समय के तापमान से रचना के स्तर पर जुड़ गई ।

1· पूर्वाग्रह - 46 - 47 अंक - पृ· 38·

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि आधुनिक युग के पूर्व यह कार्य साहित्य की दुनिया में महाकाव्य के द्वारा सम्पन्न होता था । हिन्दी उपन्यास को तिलस्मी, विलासिता और ऐय्यारी की गुफाओं से मुक्त कर जीवन के राजपथ पर ला खड़ा करने का श्रेय प्रेमचन्द को ही जाता है । जिनके पश्चात् आज तक अनगिनत कथाकारों ने समाज को देखा-परखा है । अगर किसी लेखक ने सम्पूर्ण रूप से भोगवादी दृष्टिकोण को स्वातन्त्र्योत्तर समाज के परिप्रेक्ष्य में अपनाया है तो निश्चित रूप से इसके तहत कोई न कोई सामाजिक, आर्थिक कारण अवश्य रहे होंगे । जो कि एक अलग से विवेचन-विश्लेषण का विषय है । वस्तुत: बेवजह मर्यादा का उल्लंघन करने से कतराता है । स्वातन्त्र्योत्तर युग में इस प्रकार के लेखकों में राजेन्द्र यादव का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है । हमारा विवेच्य विषय राजेन्द्र यादव के दौरान हमने कई एहम सामाजिक परिवर्तन देखे जो भयंकर समस्याएँ खड़ी करती है । जहाँ एक तरफ ये समस्याजन्य परिवर्तन भारतीयों के लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते रहे हैं । तो वहीं दूसरी ओर उनके व्यक्तिगत जीवन को अशान्ति से भर देते है ।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में कल, कारखानों, नए ढंग की मशीनों और नए ढंग के उद्योग-धन्धों का तेजी से विकास हुआ इससे पहले सामन्ती समाज व्यवस्था में मुख्य रूप से सिर्फ दो ही वर्ग समाज में देखें जा सकते थे । एक तो जमींदार वर्ग या मालिक और दूसरा छोटे

किसान एवं मजदूर वर्ग । पर औद्योगीकरण और नगरीकरण के आविर्भाव के साथ पहले के सुलझी हुई सामाजिक व्यवस्था एवं जीवन स्थितियों में जटिलताएँ आने लगीं । मुख्य रूप से विशेषीकरण और विशेषज्ञता के कारण मनुष्य-मनुष्य से दूर हटने लगा । वैसे देखा जाए तो इन समस्याओं की शुरुआत स्वातन्त्र्योत्तर काल में नहीं हुई बल्कि इससे भी बहुत पहले अंग्रेजी राज में इसका बीज वपन हो चुका था । अंग्रेजों ने भारतीय भूमि-व्यवस्था में परिवर्तन कर, कर-वसूली, लगान वसूली जैसी नई नीतियों को तो शुरू किया ही । साथ ही भारतीय बाजार को विदेशी माल को खपाने का सर्वोत्तम बाजार महसूस कर भारतीय व्यापारियों से उनका कच्चेमाल नियत मात्रा तथा सस्ते दाम पर खरीदने लगे । जहाँ भारतीय कृषि-व्यवस्था और लघु उद्योग-धंधे जो भारत की रीढ़ की हड्डी थे उसे ही अंग्रेजों ने अपना उल्लू सीधा करने की दृष्टि से छिन्न-भिन्न कर दिया ताकि वे अपनी " फूट डालों राज करों " की नीति के तहत अपना राजकार्य सुचारू रूप से भारत में चला सकें । इतना ही नहीं फूट डालने की नीति से ही । अंग्रेजी शिक्षा का भी प्रसार किया गया ताकि एक " बाबू वर्ग " बन जाए जिनकी सहायता से वे अपना राजकाज तो सुचारू रूप से चला सकें ही और दूसरी ओर ये शिक्षित वर्ग साधारण जनता से अपने आप को ऊँचा समझकर उनसे दूर भी हट जाए । अंग्रेज तो हमारे लिए विदेशी थे जो अपने इरादों को सफल करने के लिए हर तरह की, कूटनीतिक चालें चलते रहे, जिससे कि उनसे भारतीयों के लिए हार्दिक सहानुभूति की अपेक्षा करना एक हास्यास्पद

विषय है । जिसे गिरिराज किशोर ने अपने उपन्यास " जुगलबन्दो " में कुंवर शिवचरण के प्रति अंग्रेजों को सहानुभूति और हेल-मेल के माध्यम से दर्शाया है । जो दरअसल कुंवर जो से " वारफण्ड " लेने का बहानामात्र है । भारतीयों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई शासन को बागडोर अपने लोगों के हाथों में आने के बाद स्थिति सुलझनो चाहिए थो । पर स्थिति उलझतो हो गई । जिसे राजेन्द्र यादव हो क्यों उनके समकालोन अनगिनत उपन्यासकारों ने विभिन्न संदर्भों में उजागर किया है ।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में सामन्तो जोवन मूल्य एक हद तक टूटने लगें । जिसे राजेन्द्र यादव ने " सारा-आकाश " में समर को पारिवारिक स्थिति के माध्यम से दर्शाया है । इस टूटन का मुख्य कारण पूंजोवादो जोवन मूल्य है । जहाँ पैसे के बलबूते पर सबकुछ चलता है । मानवोय सम्बन्ध विशेषकर एक हो परिवार के अन्दर बाप-बेटे, भाई-भाई, पति-पत्नो जैसे नाजुक रिश्ते भी पैसे को तुला पर तुले जाने लगें । अंग्रेजो शिक्षा को प्राप्तकर कुछ भारतोय जो दूसरों के मुकाबले बौद्धिक स्तर पर जरा उभर उठकर " बाबू वर्ग " को स्थापना करते हैं । वहो अब पूंजोवादो व्यवस्था में " मध्यवर्ग " के रूप में उभरते हैं । यह शिक्षित मध्यवर्ग दरअसल पूंजोपति का नुमाइन्दा है । जो बड़ो हो दुविधा को स्थिति में है क्यों कि पूंजोपति वर्ग ने सफेदपोश नौकरो और उससे सम्बन्धित आधुनिक सुविधाएँ प्रदान कर दो है । इसलिए वह अपने आप को पूंजोपति के बराबर समझने का भ्रम पाले रहता है । जबकि उसका निकटतम

वर्गीय निम्नवर्ग जो कि बौद्धिक स्तर पर उन्नत न होने के कारण अपने शारीरिक श्रम को कम कीमत पर बेचने के लिए अभिशप्त है। मध्यवर्ग को यही समझाने का प्रयत्न भी किया। राजेन्द्र यादव अपनी अनेकानेक औपन्यासिक कृतियों में इन स्थितियों का बड़ा सजीव चित्रण किया है। इस नई जीवन-व्यवस्था के उभरने के साथ-साथ भारतीय जीवन को सशक्त करनेवाला पक्ष संयुक्त परिवार था, जो कि टूटने लगा। जैसे कि सारा-आकाश में समर चाहता है। परिवार के टूटने और बिखरने का सम्बन्ध किसी के चाहने न चाहने से नहीं है बल्कि पूँजीवादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एवं नगरीकरण के आविर्भाव के साथ स्वाभाविक ढंग से जुड़ा हुआ है। आज पढ़ा-लिखा नौजवान शहर में रोजी-रोटी का जरिया पाने के कारण वहीं रहने को बाध्य होता है। इस बात को भगवतीचरण वर्मा ने " भूले बिसरे चित्र के तहसीलदार, राजेन्द्र यादव ने " उखड़े हुए लोग " में " शरद " और " एक इंच मुसकान " में अमर के माध्यम से दर्शाया है। इस प्रकार पूँजीवादी मूल्य-व्यवस्था ने एक ओर मध्यवर्ग को जन्म दिया तो दूसरी ओर सम्बन्धों में दरार भी पैदा कर दी है। जाहिर है कि मध्यवर्ग हमेशा एक असुरक्षा की भावना से आक्रान्त रहता है। जो भी कार्य वह करता है उन सब के पीछे यह असुरक्षा की भावना ही अधिकतर काम करती है। इसके तहत वह कुछ अच्छा काम भी करता है और कभी-कभी अपनी स्थिति को बनाए रखने के लिए धोखा-धड़ी तक कर बैठता है। इसीलिए मध्यवर्ग को कमीना वर्ग कहा गया है। उसे कमीना कहने का एक कारण यह भी है कि मध्यवर्ग अवसरवादी है। वह समयानुकूल सत्ता में बदलाव के साथ अपना पक्ष भी बदल देता है,

क्यों कि वह भली-भाँति जानता है कि सताधारी का पक्ष लेने पर ही उसकी खुद की स्थिति बरकरार रह सकती है । पूँजीपति वर्ग सिर्फ इस वर्ग से जुड़ा हुआ नहीं है, बल्कि वह हर किसी वर्ग के लोगों की रोजमर्रे के जीवन को भी प्रभावित करता है । वह उपभोक्तम वर्ग को जन्म देकर अपनी व्यापारिक प्रकृति का जहाँ परिचय देता है, वही असामाजिक प्रवृत्तियाँ जैसे कि हिंसा आंतक आदि को भी बढ़ावा देता है,। क्यों कि पूँजीवाद के आविर्भाव के साथ ही पैसे को सर्वाधिक महत्व मिलने लगा । इसलिए हर कोई इन्सान दो वर्ग के बीच आर्थिक स्तर पर जो खाई है उसे जल्द से जल्द पाटना चाहता है । पूँजीपति अपनी शोषण नीति से हमेशा किसी न किसी को दबाता रहता है तो स्वयं उसके शत्रुओं के दायरे बढ़ जाते है । उसका जीवन इस हद तक असुरक्षापूर्ण हो जाता है कि वह अपनी जान पर भी खतरा महसूस करता है । इस परिप्रेक्ष्य में राजेन्द्र यादव के " उखड़े हुए लोग " उपन्यास का देशबन्धु नामक पात्र सर्वाधिक उल्लेखनीय है । जहाँ एक तरफ आर्थिक स्तर पर जो खाई बनी है उसे कुछ लोग जल्द से जल्द पाटना चाहते है तो पूँजीपति वर्ग अपने से कम स्तर वालों से बात करना भी अपनी शान में गुस्ताखी समझता है । ऐसी मनःस्थिति का, जीता-जागता उदाहरण हम " एक इंचमुसकान " के कैलाश में देखते है । इसी प्रकार के मनःस्थिति के साथ मानवीय सम्बन्धों में दरार आ गई है । आज सभी रिश्ते नाते पैसे पर आधारित है । कोई भी व्यक्ति अपने निकटतम गरीब सम्बन्धी से अपरिचित सा व्यवहार करता है और दूर के अमीर सम्बन्धी के साथ अपनापन भरा व्यवहार करता है । " सारा - आकाश " (राजेन्द्र यादव) में एक ही परिवार में माता पिता और

बच्चों के बीच पैसे के कारण आई दरार को स्पष्ट देखा जा सकता है। जब तक समर बेरोजगार है तब तक उसके अपने घरवाले उसके और उसकी पत्नी के साथ सौतेला व्यवहार करते है। पर जैसे ही उसे पच्चहत्तर रुपए की एक साधारण नौकरी मिलती है तो सारा परिवार उसके साथ अत्यन्त प्रेम के साथ पेश आने लगा है। माता-पिता जो बच्चों को अबतक ईमानदारी और आदर्शवादी जीवन की शिक्षा दे रहे थे। वे स्वयं बच्चों को ऊपर की कमाई और बेईमानी का रास्ता दिखा रहे है। शिवमूर्ति की " भरतनाट्यम " नामक लघु उपन्यास में ईमान - दार ज्ञान को हर जगह जब अन्याय का सामना करना पड़ता है और हर जगहसे नौकरी चली जाती है तो पिता बेटे का अन्याय को प्रश्रय देने और ऊपरी आमदनी के लिए प्रोत्साहित करते है। ऐसी ही कुछ स्थिति गिरिराज किशोर के उपन्यास " जुगल बन्दी " में तहसीलदार और उसके पिता मुंशीजी की है और यही से हमारे समाज की विडम्बना शुरू हो जाती है। पैसे के कारण हर प्रकार के मानवीय सम्बन्धों में पड़ने वाली दरार को आज महसूस किया जा सकता है पर जैसे ही पैसे को अत्यधिक महत्व स्त्री-पुरुष के नाजुक सम्बन्धों में दिया जाता है तो बात गले में आकर अटक जाती है। पैसे के कारण स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में आई दरार ही हमारे सामाजिक स्थिति को गिराने वाला महत्वपूर्ण कारण है। भारत में पश्चिम का प्रभाव जब से पड़ा है तभी से अनेक नारी मुक्ति आन्दोलन हुए। नारी-शिक्षा और उनको भी आर्थिक स्तर पर स्वतन्त्रता देने जैसी बाते सामने आई। ये बातें जहाँ एक तरफ भारतीय नारी की स्थिति को ऊपर उठाने और उन्हें अपने हक की लड़ाई लड़ने के लिए प्रेरित करती है, वही स्त्री-पुरुष के नाजुक

सम्बन्ध में कड़वाहट का समावेश भी करती हुई दिखाई देती है । कमलेश्वर की " काली आंधी " में पत्नी पति से नौकरी छुड़वाकर अपने बलबूते पर उससे कोई कारोबार करवाना चाहती है । जाहिर है स्त्री के इस प्रकार के अहम भरे प्रस्ताव से पुरूष के स्वाभिमान और आत्म सम्मान को ठेस पहुचना स्वाभाविक है । " एक इंच मुसकान " में परित्यक्ता अमला उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुकी है और विवाह को बेमानी समझती है । इसीलिए अमर से कहती है कि नारी के जीवन में विवाह और पति की कमी को विभिन्न प्रकार की शिक्षा के माध्यम से भरा जा सकता है । एक परित्यक्ता का अपने विवाह को टूटन को इस प्रकार से अभिव्यक्त करना, वास्तव में स्त्री-पुरूष सम्बन्ध में आई दरार को ही दर्शाना है । स्त्री की बढ़ती आक्रामकता के कारण पुरूष में अपनी जीवन के प्रति एक अनिश्चितता और असुरक्षा की भावना घर कर गई है । जिस कारण " एक इंच मुसकान " का अमर और " सारा आकाश " का समुर विवाह से कतराते है क्यों कि वे विवाह को अपने उज्जवल भविष्य के मार्ग को रोग समझते है । इसी कारण स्वातन्त्र्योत्तर युग में स्त्री-पुरूष सम्बन्ध मे पैसे के कारण टूटते जा रहे है । आज इस सम्बन्ध में पहले जैसी भावुकता और विश्वास का अभाव है । इसी कारण नारी शिक्षा और उसके द्वारा परिवार के लिए आर्थिक सहायता होने के बावजूद पुरूष असुरक्षा महसूस करता है । यही सब कारण है जिन्होंने भारतीय समाज में तलाक की संख्या में बढ़ोत्तरी की है ।

समाज को विडम्बना के कारण हो, चाहे पारिवारिक समस्या के कारण हो, शिक्षित अशिक्षित सम्पन्न-असम्पन्न हर जगह नारो में एक मानसिक असन्तुलन दिखाई पड़ता है । इसो कारण शिवमूर्ति के कुछ उपन्यास "भरतनाट्यम " लघु उपन्यास में ज्ञान को पत्नो के साथ और राजेन्द्र यादव के " कुलटा " लघु उपन्यास की नायिका मिसेज तेजपाल वायलनिस्ट के साथ भाग जातो है, तो " उखड़े हुए लोग " में मायादेवो देशबन्धु के प्रेम में बावरो हो अपने पति को मारने में भागोदार बनतो है । " मंत्रविद्ध " को नायिका सुरजोत इन सबों से दो कदम आगे है जो एक शादोशुदा तीन बच्चों के पिता के साथ भागकर शादो करतो है । हालाँकि ये तमाम शिक्षित नारो पात्र भलो-भाँति जानतो है कि उसका विवाह गैर कानूनो है । " उखड़े हुए लोग " में जया, शरद के साथ भागकर बिना शादी किए भो शहर मे पति-पत्नो का सम्बन्ध निभातो है । ये सब उदाहरण असन्तुलित मस्तिष्क का हो द्योतक है जिनके मूल में ठोस सामाजिक आर्थिक कारण मौजूद है । परिणाम स्वरूप हमारे तथाकथित सुसंस्कृत भारतोय समाज का स्तर दिन पर दिन गिरता जा रहा है ।

हमारे लेखक वर्ग इस बात को गले के नोचे नहो उतार पाते, जिस कारण उन्होंने अपनो रचनाओं में उपरोक्त समस्याओं को बड़ो तटस्थता के साथ उठाया है । इस कार्य को करने के दौरान वे अपनी वर्गीय भावों का अतिक्रमण भर करते देखे जा सकते है । प्रेमचन्द से हो यह प्रवृत्ति शुरू हुई जो आज तक चलो आ रहो है । मार्क्स ने कहा भो है कि वह लेखक जोनियस है और उसो को रचना श्रेष्ठ

मानी जाएगी जिसने अपने वर्ग से बाहर जाकर अन्य वर्ग का भी बड़ी सजीवता के साथ वर्णन किया, हाँ पर बाकी रचनाकार जो सिर्फ अपने वर्ग की लक्ष्मण रेखा तक ही सीमित रहते हैं । वह मेडिऑकर लेखक हैं उनकी लेखनी से जो रचनाएँ सामने आएगी वे उत्कृष्ट कला का उदाहरण नहीं हो सकेगी । स्वातन्त्र्योत्तर काल में लेखकों ने वर्गातिक्रमण कर अपनी व्यापक रचना दृष्टि का परिचय दिया । जैसे कि राजेन्द्रयादव ने जहाँ अपने स्वयं के वर्ग मध्यवर्ग को उठाया है । वहीं उच्चवर्गीय (अमल, कैलाश, देशबन्धु और मिसेज तेजपाल इत्यादि) और निम्नवर्गीया (देशबन्धु के मजदूर और उनका यूनियन) को बडी सजी के साथ वर्णन किया है ।

राजेन्द्र यादव अपनी कृतियों के निर्माण के दौरान विभिन्न प्रकार के पात्रों से मिलते हैं और तदनुकूल उनकी मन:स्थिति परिवर्तित होती हुई दिखाई देती है । उन्होंने अपने पात्रों के जीवनानुभवों के अनुकूल परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों का बड़ा सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है । जिससे इनकी रचना प्रक्रिया के दौरान रचना की प्रामाणिकता एवं प्रासंगिकता, पात्रों का सही सही मनोविश्लेषण इत्यादि स्वाभाविक ढंग से हो पाया है । इनकी रचना की इन पक्षों को सशक्त बनाने का श्रेय राजेन्द्र यादव की भाषा-शैली को भी है ? भाषा सहज, स्वाभाविक, पात्रानुकूल और परिस्थितिजन्य है । जिसे बहुत हद तक आम पढ़े-लिखा आदमी भी सहजता के साथ समझ पाता है । इनकी शैली कई जगह विदेशी साहित्यकारों की कृतियों से

प्रभावित प्रतीत होती है। पर राजेन्द्र यादव ने कहीं भी भारतीय सामाजिक स्थिति को नज़र अंदाज कर अंधाधुंध पाश्चात्य प्रभाव को नहीं अपनाया है। उन्होंने इस प्रभाव को ग्रहण किया है। उन्होंने भाषा शैली के क्षेत्र में अपने उपन्यासों में कुछ नवीन एवं अभिनव प्रयोग भी प्रस्तुत किए है, जो सर्वदा स्वाभाविक बन पड़े है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट " क "

राजेन्द्र यादव : एक बहुआयामी व्यक्तित्व

राजेन्द्र यादव " औरों के बहाने " संश्लेषणात्मक पुस्तक के आरम्भ में लिखा है कि ---

" एक तरह से देखा जाए तो सारा ईमानदार कथा-लेखन औरों के यानि पात्रों के बहाने अपनी ही बात कहता है । कहीं बात घटनाओं, वार्तालापों और चरित्रों के स्तर पर होती है, तो कभी अनुभवों, स्थितियों और उनकी प्रतिक्रियाओं के रूप में कहीं इन सबसे भी गहरी उतरकर संवेदना और अवधारणाओं, आस्था और निष्ठा की शक्ल में, होता सब " अपना " या " आत्मकथ्य " ही है । हाँ, कहीं यह प्रक्रिया उल्टी भी हो जाती है : सामने वाले की बात चीत, बहसें, अनुभव-निर्णय, स्थितियाँ और जिन्दगी से निचोड़े गए कटु-मधुर नतीजे

देखकर हमें लगता है, " अरे, ये हो अब कुछ तो मेरो भी है ।" -- दूसरों से अपना सम्बन्ध मूलत: दुहरा, दुधारा और द्वन्द्वात्मक है : औरों में अपने को पाना और अपने को औरो मे पहचानना यह द्वन्द्वात्मकता एक जोवन्त प्रक्रिया है, हर क्षण हममें घटित होतो रहतो है - बशर्ते हम अपने को " देखते " रहे, अन्वेषण के क्रम में जोते रहें ।"[1]

अत्यन्त गत्वर राजेन्द्र यादव का व्यक्तित्व और बहुआयामो जो कि ऊपर दिए गए उनके मन्तव्य से स्पष्ट हो जाता है । उनको सर्वदा धारणा रहो है कि रचनाकार अपने पात्रों के माध्यम से जो कुछ भी कहता है वह दरअसल उसका अपना अनुभव (First Hand Experience) हो है ।

इस प्रकार राजेन्द्र यादव यथार्थ को अभिव्यक्ति पर जोर देते है । परिस्थितियों में राजेन्द्र यादव सर्वाधिक " पोढ़ो संघर्ष " से प्रभावित जान पड़ते है क्यों कि उन्होंने लिखा है कि --

" कहना चाहिए कि एक समय और परिवेश को उपज, हम सब एक हो कांच के बने होते है, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिवेश हमारे व्यक्तित्व के पहलू और कटाव भी करोब-करोब

---

1. औरो के बहाने : राजेन्द्र यादव : पृ. 8. (संश्लेषण)

एक जैसे ही तराशते है । .... बहरहाल मुझे लगता रहा है कि मूलत: हर समकालीन पीढ़ी की बनावट या रसायन अलग-अलग हो सकते हैं, मगर सरोकार प्राय: एक ही हो जाते है । तेवर विरोध के हो या समर्थन के, मगर समकालीन होने की नियति ही उन्हें जोड़े रखती है । इस नियति को समझना ही अपने आपको समझना है ।"[1]

राजेन्द्र यादव विभिन्न प्रकार के लोगों से मिले एवं मिलाए गए । उनमें से अनेक के जीवनानुभव सकारात्मक थे और अनेक के नका - रात्मक । पर जो भी हो वह उनका " अपना " है । इस " अपना " कहे जाने वाले अनुभवों में भूत से जुड़े हुए गुलामी एवं दुख के दिन भी हो सकते है । जबकि आज उस आदमी के जीवन में सुख ही सुख हो सकते है जहाँ कोई दबाव या गुलामी का सवाल ही न हो, वह अपने लिए हर प्रकार का चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र है । पर उसके बीते हुए कल का नकारात्मक पक्ष सर्वदा उसके मन में एक क्षोभ पैदा करता ही रहता है । इसी बात को राजेन्द्र यादव " भारत " एव " भारतीयता " के साथ जोड़ते है । " भारत " हजारों वर्ष गुलामी के अंधकार में फँसा हुआ था । आज भारत स्वतन्त्र होकर भी अपने वर्तमान और भविष्य को उज्जवल बनाने के बजाए गुलामी के दिनों की याद में समय गवा रहा है । आज बच्चा-बच्चा एक दुविधा की स्थिति में आत्माधिकार के साथ कह उठता है कि --

---

1. औरों के बहाने : राजेन्द्र यादव - पृ. 9.
§ संश्लेषण §

" कहीं भी कोई क्षण नहीं है जो मेरा अपना हो, असली सच्चा और जेनुइन हो ..... सब-दूसरे हैं, दूसरों के या दूसरों की दया पर हैं, इसलिए झूठे, नकली और दिखावटी है .... इन भूखे भीड़ियों के बीच में नंगा और निर्वस्त्र खड़ा हूँ। दर्शन, भाषण, वक्तव्य, आश्वासन, बजट, प्लान, किताबें, रेडियो, फिल्म, अखबार, बेस्ट सेलर सब हमारी भाषा के सुन्दरतम शब्दों को खा गए हैं दूसरों को खूंखार झूठ, वहन कर रहे है, दिखावे के है और हमारे आसपास धुंए के पर्दे-दर पर्दे बनाए चले जा रहे हैं। जो कुछ असली है वह तो इनके पीछे है ..... हर सुन्दर, शिव और सत्य के पीछे एक घिनौना राक्षसी भयंकर चेहरा छिपा है जो केवल हमें बहकाने के लिए इन सुन्दर-सुन्दर मुखौटों को सामने कर रहा है .... जो दीखता है, सामने लाया जाता है, बोला और लिखा जाता है, वह कतई-कतई सच नही है, जरा उसके पीछे झांको, थोड़ा सतह को कुरेदो, रीड बिट्वीन दलाइन्स तब पता चलेगा कि असली मन्तव्य स्वार्थ और मुद्दा कहाँ है ..... । "[1]

इसके आगे वे आज के मनुष्य के अकेलेपन के बारे में भी बहुत महसूस करते हैं। आज भीड़ में हर कोई इन्सान अकेला पड़ गया है जबकि वह हर दूसरे तीसरे आदमी को भली-भाँति पहचानता है। फिर भी अनजान बनना पड़ता है। इसके अकेलेपन और अलगाव

---

1. औरों के बहाने : राजेन्द्र यादव - पृ. 11 - 12.

के कारण आज मनुष्य भविष्य के प्रति एक अनिश्चय अनुभव करता है। जिसेवे इस प्रकार के अभिव्यक्त करते है — "हम सोकर उठेंगे और पाइगें कि जो कल था वह आज बिलकुल नहीं रह गया है .... मै एक एक्सीडेन्ट का शिकार हो गया हूँ ..... बोबो कोर्ट में तलाक की अर्जी दे बैठी है, बॉस डिसमिस हो गया है, फाइले गायब हो गयी है· .... एक निराकार सी प्रतीक्षा, साथ ही हर आनेवाले दिन का आतंक .... गहरी होती जाती अ असुरक्षा और हर चीज के अस्थिर हो जाने का नासूर .... सब मिलाकर एक असुरक्षा और भविष्यहीनता का संत्रास .... यहाँ केवल सच है यह क्षण ..... "[1] आगे वे कहते है कि इस भगदड को भौंचक्की निगाहों से देखता हुआ एक इन्सान ही अभिव्यक्ति के सामर्थ्य के कारण लेखक कहलाता है।

उपरोक्त स्थितियों के वर्णन से स्पष्ट है कि कुछ हद तक इनके व्यक्तित्व के विकास के पपीछे ये स्थितयाँ थी, जिसका प्रभाव उनके कथाकार पर पड़ना स्वाभाविक है, क्यों कि आरम्भ में ही उन्होंने स्वीकार किया है कि दूसरों {पात्रों} के जरिए जो कुछ कहा जाता है वह स्वानुभव ही होता है। औरों के द्वारा लिखी कला को पढ़कर यह महसूस होता है कि यह घटना मेरी ही तो है।

1· औरों के बहाने : राजेन्द्र यादव - पृ· 14·

उपरोक्त परिस्थितियों से प्रभावित कुछ देशी-विदेशी लोगों ने भी वक्त-वक्त से राजेन्द्र यादव को मानसिकता को परिवर्तित करने में मदद किया जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व के विकास पर भी पड़ा। जिसमें उनको पत्नी एवं लेखिका मन्नू भण्डारी का विशेष हाथ है। राजेन्द्र यादव समझते है कि हर कोई इन्सान अपने बारे में अनगिनत खुशफहमियाँ पाले रहता है पर दूसरों के सम्पर्क में आकर जब वह अपनी कमजोरियों से साक्षात्कार करता है तो उसकी प्रतिक्रिया भिन्न प्रकार की होती है। राजेन्द्र यादव की स्वयं के व्यक्तित्व के विकास में भी कुछ ऐसी बाते है। इनके व्यक्तित्व में जिन महान हस्तियों को प्रभाव पड़ा उनमें, मन्नू-भण्डारी और ख्यातिप्राप्त कहानीकार चेखव का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस परिप्रेक्ष्य में मन्नू भण्डारी को निम्न लिखित मन्तव्य दृष्टव्य है --

" पत्नी होने के नाते अच्छाईयों और बुराईयों, दुर्बलता और दृढ़ता, गुणों और दुर्गुणों के ताने-बाने से बुने हुए इस व्यक्ति के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए, मुझे बड़े संयाद और सन्तुलन की आवश्यकता महसूस हो रही है। स्वर जरा प्रशंसात्मक हुआ, तो तुरन्त ही उसे यह कहकर अमान्य घोषित कर दिया जाएगा कि एक-दूसरे पर अक्षत-चन्दन तो इनका धंधा है। निन्दा का पुट जरा गहरा हो गया, तो हूँ, यह तो प्रशंसा करने का आधुनिकतम तरीका है। फिर इन्हें देखने के लिए एक चश्मा तो चढ़ा ही हुआ है। यों इतना आश्वासन दे दूँ, कि उसकी काँच अब काफी धुंधले हो गए है -- क्यों कि अब मुझ में भी वह लेखकीय तटस्थता कहीं से आ गई है .... । "[1]

---

1. औरों के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ. 145.

कोई भी व्यक्ति किसी भी क्षेत्र से सम्बन्ध रखता हो पर जब तक उसमें अपने क्षेत्र को और भी कुछ अच्छा देने और उभर उठने की इच्छा न हो तब तक वह आदमी सफल नहीं हो सकता है। राजेन्द्र यादव के अन्दर भी और अच्छा लिखने और साहित्य को और ऊँच स्तरीय कुछ देने की आकुलता है, जिसके तहत वे हमेशा बेचैन रहते है एवं कह उठते है कि " अब तक जो कुछ लिखा, वह सब व्यर्थ है, मात्र भूमिका है, आरम्भिक प्रयोग है, असली तो, अब लिखना है।"[1] इनकी इस बेचैनी को देख पत्नी मन्नू भण्डारी कहती है कि " इनकी यह बेचैनी, यह रूप देखकर सचमुच मुझे बड़ा तरस आता है। इनकी यह पीड़ा, प्रसव पीड़ा से किसी प्रकार कम नहीं।"[2]

आज इस स्पर्धा के युग में कोई भी एक इन्सान अपने समान गुण वाले को प्रोत्साहित करने को हिचकिचाता है क्यों कि वह हमेशा एक असुरक्षा के वातावरण में जीता है कि कहीं दूसरा व्यक्ति उससे आगे न निकल जाए पर राजेन्द्र यादव इस विषय में काफी खुले दिल के मालूम होते है, जिस कारण वे किसी भी इन्सान, वह उनका नौकर ही क्यों न हो, पर उसमें कुछ लिखने की शक्ति दिख पड़े तो उसे प्रेरित-प्रोत्साहित करने में जुट जाते है। इसका जीता-जागता उदाहरण उनकी पत्नी मन्नू भण्डारी है। उन्हें कभी भी मन्नू जी की तरक्की

---

1. औरों के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ. 146.
2. - वही - पृ. 151.

से ईर्ष्या भी नही हुई । पर स्वभावानुसार परिवार के लोग बेटे से अधिक तरक्की करती हुई बहू से ईर्ष्या करते हुए वह उठते है " कैसे लोग अखबारों में तेरा नाम छाप देते है, तुझे सभापति बना देते है । अब यहाँ सड़क की सीढ़ियों पर ही बैठा है .... । कोई आश्चर्य की बात नही दो साल बाद इनकी अपनी बिटिया भी यह कहती नज़र आए -- पापा कैसे लिख लेते है आप, आपको कुछ भी तो नही आता ।"[1]

राजेन्द्र यादव के पुरूष पात्र (" एक इंच मुसकान का अमर, मंत्रविद्ध का तारक इत्यादि) अधिकत्तर निर्णय-दुर्बल एवं असुरक्षा महसूस करने वाले दिख पडते है । इसका एक कारण आ लेखक का निजी स्वभाव भी हो सकता है । वे स्वभावत: छोटी से छोटी बात पर भी निर्णय नही कर सकते । जिस कारण वे दूसरों की बातों से आसानी से प्रभावित (influenced) हो जाते है । जिस कारण से समय-समय पर दिल्ली से कलकत्ता और कलकत्ते से दिल्ली आते-जाते रहे । जिसे देख ठाकुर साहब ने चुटकी ली " वाह रे यार ! गंगा गए तो गंगादास और जमुना गए तो जमुनादास ।"[2]

---

1. औरों के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ. 147.
2. - वही - पृ. 152.

ये इस हद तक असुरक्षित महसूस करते है कि वे हर जगह ताला लगाए फिरते है । किसी रचना के लिए कोई थीम याद हो आई, उसे कागज पर उतार लिया और उसे मेज के दराज़ में बन्द कर दिया - वहाँ तक तो ताले-चाबी की बात गले से उतरती है पर होल्डॉल पोर्ट फोलियों और एयर बैग को ताला लगाना, बड़ी बचकानी हरकत लगती है । अपने द्वारा लिखें चीजों को दराज में ताला लगाकर रखने की बात को जस्टीफाई करते हुए वे कहते है कि " अनलिखा भाव या अनुभूति एक ऐसी फिल्म है, जो केवल एक ही बार एक्सोपोज़ होती है ।"[1] इनकी इस ताला लगाने की आदत पर कमलेश्वर टिप्पणी करते हुए कहते है कि " साहब ताले लगाने का राजेन्द्र को बड़ा शौक,है, एक बार आया तो देखा, दो ताले सूटकेस में, एक ताला एयर बैग की जिप में, एक पोर्टफोलियों में, दो होल्डॉल में । यानि यो समझ लीजिए कि जहाँ छेद वहाँ ताला । सूटकेस खोला तो देखा, दो छोटे-छोटे फालतू ताले और पड़े है । मैंने सोचा लाओं, एक ताला टूथ-ब्रश के पीछेवाले छेद में भी ठोक दूँ । सोचिए साहब ...... "[2]

इस तरह की असुरक्षा, निर्णय-दुर्बलता जैसी कमजोरियों के होते हुए भी राजेन्द्र यादव ने कभी हीन-भावना को अपने ऊपर हावी होने नही दिया है । इसका कारण शायद ये अपनी सामर्थ्य पर पूरा विश्वास रखते है । जिस कारण अपनी रचना के प्रति किसी भी प्रकार

---

1. औरों के बहाने : राजेन्द्र यादव - पृ. 150.
2. - वही - पृ. 148.

की कटु आलोचना को सुनकर ये उत्तेजित नहीं होते । राजेन्द्र यादव की इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं को देखकर मैं समझती हूँ कि वे अपने बारे में ओवर कान्फिडेण्ट हैं । जबकि उनकी कुछ औपन्यासिक कृतियों में स्त्री-पुरूष सम्बन्धों एवं सेक्स-चित्रण कमोबेशी आलोचना के योग्य है । जैसे " अनदेखे अनजान पुल " की निन्नी जो अपनी कुरूपता के कारण पुरूष के सान्निध्य से वंचित रह जाती है । सेक्स की तृप्ति के अभाव में वह जिस प्रकार की कल्पनाएँ करती है वह जरा अस्वाभाविक जान पड़ता है । उसी प्रकार " कुलटा " उपन्यास की मिसेज तेजपाल का वायलिनिस्ट के साथ भागना एवं इस प्रकार की शिक्षित महिला का किसी के साथ भागने के लिए जो कारण बताया गया है वह भी, विश्व - सनीय ही है ।

इनकी एक और कमजोरी ये देखी गई है कि वे इनकी रचनाओं में शिल्प इस हद तक हावी हो जाता है कि कहीं-कहीं कथ्य कमजोर पड़ जाता है । इस का कारण स्वयं मन्नू भण्डारी इतने बरसों में नहीं समझ पाई एवं कहती हैं कि — " यह सच है कि अपनी छोटी से छोटी बात को भी नए ढंग से कहना, हर क्षेत्र में नए प्रयोग करना राजेन्द्र को बहुत प्रिय है । चाहे कहानी हो या आत्म-परिचय, उपन्यास के अध्याय के शीर्षक हों या पुस्तकों की भूमिका सभी में आपको ये प्रयोग मिलेंगे । जो कहीं-कहीं तो मुझे बड़े बचकाने से लगते हैं, प्रयोगों के प्रति यह झुकाव, अपने को सबसे विशिष्ट और भिन्न बनाए रखने की यह व्याकुलता, मन में भीतर तक पैठे हुए किसी हीन भाव की प्रतिक्रिया है या उस विलक्षण प्रतिभा का आग्रह है, जो सामान्य और

परम्परागत ढंग से अभिव्यक्ति पाकर सन्तुष्ट नहो होतो - इस बात का निर्णय मैं आज तक नहीं कर पायों ।"[1]

राजेन्द्र यादव निहायत अन-कन्वेन्शनल, प्रेम-विवाह-परिवार सेक्स सबके मामले में अत्याधुनिक विचार रखते है । अपनो अनेक झूठों को सफाई देने में असमर्थ होने के कारण उसे रहस्य का जामा पहनाते है । एक प्रकार के रहस्य को मेनटेन करते-करते उनको जिन्दगो का एक खास पैटर्न बन गया सा दिखता है । जिसमें वे दोहरो जिन्दगो जोते है । एक जो हमारे सामने आतो है और दूसरा, वो जो सबको नज़र से बचा कर रखना चाहते है । राजेन्द्र यादव औरों के बहाने में कहानो-कला के परिप्रेक्ष्य में इस झूठ और रहस्य के पक्ष में सफाई देते हुए कहते है कि " हाँ, हर कहानोकार को कहीं न कहीं झूठ को साधना " जरूर पड़ता है । यह न हो तो उसको कला और फोटोग्रॉफो में फर्क करना मुश्किल पड़ जाए ।"[2]

राजेन्द्र यादव सिर्फ हिन्दो और भारतोय साहित्य का हो नहीं बल्कि पाश्चमो साहित्य का भी गहरा ज्ञान रखते है । पर वे यह भूल कर बैठते है कि वक्त-बेवक्त, आवश्यकता एवं स्थान को समझे बिना इस पश्चिमो साहित्य ज्ञान का प्रदर्शन करने लगते है । जिससे मन्नू भण्डारो चिढ़तो हुई कहतो है कि --

---

1. औरों के बहाने : राजेन्द्र यादव - पृ. 148.
2. - वही - पृ. 48.

" विदेशी लेखकों की जीवनियाँ पढ़-पढ़ कर यह धारणा इनके मन में बड़े गहरे तक बैठ गई है, कि दुहरी जिन्दगी महान लेखक बनने की अनिवार्य शर्त है । शुरू में मुझे लगता था, कि विदेशी लेखकों से एक प्रकार से आब्सेस्ड है । " बोलेंगे या कुछ भी लिखेंगे, तो नामों की एक लम्बी सूची चली आ रही है । .... मैं काफी परेशान रहती थी, इस बात से कि हमारी जिन्दगी की कोई समस्या है और उदाहरण दूसरों के दिए जा रहे हैं ।" [1]

जहाँ तक साहित्य के क्षेत्र में क्वालिटी का सवाल है राजेन्द्र यादव पन्ने भरने की बात को अस्वीकार करते है । कहने का तात्पर्य यह है कि कोई अगर किसी ने किलो-किलो भर पन्ना खर्च कर अपनी रचना तैयार की है तो जरूरी नहीं है कि उसकी क्वालिटी उच्चस्तरीय हो । मानते थे कि कम लिखकर भी क्वालिटी बरकरार रखी जा सकती है ।

राजेन्द्र यादव को अब तक हमने कहानीकार और उपन्यास - कार के रूप में देखा । पर प्रकाशक के रूप में भी उनका व्यक्तित्व किसी भी हालत में कम नहीं है । प्रकाशक के जीवन में भी विडम्बनाएँ है । अपने इस रूप के अनुभव का भी वे वर्णन करते हैं ।

---

1. औरों के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ. 149.

" हर लेखक या तो दो "पाप" कर चुका है, या करने को साध पाले होता है और सुअवसर को प्रतीक्षा करता है । एक अपनी पुस्तकों का प्रकाशक वह स्वयं हो, दूसरे उसके हाथ में एक पत्र हो, गुनाह आदमी किस उम्र में कर गुजरे, इसका कोई ठीक नहीं । प्रकाशक बनने का गुनाह मैंने लेखकीय जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही कर लिया था । .... प्रकाशन तो खैर क्या चलता, अश्कजी से पत्र-युद्ध जरूर हो गया । लेखकीय विशेषाधिकार का वास्ता देकर हमने उनसे अतिरिक्त कमीशन चाहा था - और अश्क दम्पत्ति थे कि हर बार हमें अपनी नियमावली भेज देते थे । मैं समझ नहीं पाता कि लेखक होते हुए भी, एक संघर्षशील लेखक को विशेषाधिकार की माँग को ये लोग कैसे अनसुना कर सकते हैं ? " व्यापारिक नियम " और " लेखकीय आदर्श " को लेकर हम लोगों में तेज-तरार पत्राचार भी हुआ । शीघ्र ही बात साफ हो गयी, लेकिन मेरे मन में बैठ गया कि ये लोग " निहायत रची " हैं । " निहायत रची " और व्यापारिक सफलता " - ये दोनों बातें कहाँ सामजंस्य पाती हैं -- इसे समझने में मुझे समय लगा । " [1]

" लेखकीय आदर्श " को बरकरार रखते हुए " व्यापारिक सफलता " के दावपेंचों को राजेन्द्र यादव ने समझा, उसी का नतीजा है, " अक्षर प्रकाशन " एवं उनकी " हंस पत्रिका ", हंस " पत्रिका के सम्पादकीय में राजेन्द्र यादव स्वयं हर बार किसी न किसी समकालीन

1· औरों के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ· 28 - 29·

समस्या यह समस्या किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित हो सकती है । पर रुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हैं जो कि विचारोत्तेजक हुआ करता है । इसके अतिरिक्त वे ऐसे-ऐसे विषय उसमें सम्मिलित करते हैं जिसे पढ़ने के लिए प्रत्येक पाठक हर महीने बेकरारी से प्रतीक्षा करता है ।

कथाकार राजेन्द्र यादव को तो हमने देखा जहाँ उन्होंने उपन्यास एवं कहानी के क्षेत्र को अपनी लेखनी के माध्यम से समृद्ध बनाया और दूसरी ओर वे स्वयं हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित भी हो गए । उन्होंने कहानी और उपन्यासों के अतिरिक्त संश्लेषण पद्धति में " औरों के बहाने " की रचना की । इन्होंने अनुभव (लेखन) की सारी दुनियां संस्मरण लिखती है, जो कि अधिकतर स्टीरियोटाइप्ड ढंग का होता है । जिसे पढ़कर पाठक सरस महसूस नहीं करता । इसी लिए इन्होंने संश्लेषण पद्धति को अपनाया । जहाँ संस्मरण को विवेचित विश्लेषित कर प्रस्तुत किया जाता है । जहाँ जगह-जगह पर लेखक को अपना मत अभिव्यक्त करने का अवसर भी मिलता है । जिससे संश्लेषण संस्मरण के समान सिर्फ देखी घटना का ब्योरा न देकर, सरस और रुचिपूर्ण बन जाता है । इन्होंने " औरों के बहाने " इसलिए लिखी कि जब हम दूसरों के सम्पर्क में आते हैं तो कितनी ही हमारी अपनी कमजोरियाँ और विशेषताएँ भी खुलती हैं । दूसरे शब्दों में अगर कहा जाए तो अपने बारे में ठीक-ठीक जानने के लिए दूसरों के सम्पर्क में आना निहायत ही जरूरी है । शायद इसीलिए हमारे लिए सामाजिक जीवन (Social life) का होना जरूरी है ।" औरों के बहाने " में राजेन्द्र यादव ने तकरीबन तेरह साहित्यकारों (देशी-विदेशी) से मिलकर जहाँ उनके गुण-दोषों

को देखने परखने का प्रयत्न किया है, वहीं उनके जरिए इनको भी कई बातें सामने आती है । इसी परिप्रेक्ष्य में राजेन्द्र यादव की नारी के प्रति, सेक्स के प्रति, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के प्रति तथा अन्य अनेक सामाजिक सम्बन्धों के प्रति, विचार सामने आते है । लेखकों के लिए सामाजिक सम्बन्ध कैसे होते है उस पर राजेन्द्र यादव इस प्रकार अपना विचार अभिव्यक्त किया है --- " जो सम्बन्ध, जो परिवार, जो परिवेश, जो समय हमें मिला है, वह किसी " अपने " के बदले दिया गया है, यह एक " कामचलाऊ स्थिति " है, सब्स्टीट्यूट है और चूँकि सब्स्टीट्यूट है, इसलिए वह [लेखक] केवल उसे निभा रहे है, प्रतीक्षा के काल को काट रहे है । न वह हमारा है और न हम उसके है । हम कहीं भी उसे बिलोंग नही करते और " यह न जुड़ पाने का " अहसास या सेंस-आफ नो बिलांगिग " हमें जिन्दगी का हिस्सेदारी [पार्टिसिपेन्ट] नही केवल दर्शक बनाए रखती है, हमें उससे बाहर रखती है -- भीतर का आदमी " नही रहने देती । दर्शक है और हमें " अपनी " बस आने तक का समय काटना है, हम क्यों " दूसरों " के झगड़े से पड़े हम तो " आउट साइडर " है । हमारे लिए बाकी सब " दूसरे " है । और ये दूसरे है कि हमारे रेशे-रेशे में गहराई तक समा गए है । हम न इन्हें " अपना " समझ पाते है, न निर्ममता से निकाल पाते है । अविश्वास, घृणा, तिरस्कार, तटस्थता-दूसरों के प्रति यानि अपने प्रति और इन सबके बीच जो सही है वह है एक अतार्किक, बेबुनियाद - भाग्यवादी प्रतीक्षा ।"[1]

---

1. औरों के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ. 12 - 13.

उनका नारी के प्रति दृष्टिकोण यह है कि एक औरत में साठ साल के उम्र में भी छःसाल की बालिका का वास होता है। अर्थात् नारी की प्रकृति में एक प्रकार का इनोसेन्स होता है। जो हर उम्र में जाने-अनजाने ही अभिव्यक्त हो जाता है। आगे इन्होंने नारी के अपने विचारों को कृष्णा सोबती की कहानी "सिक्का बदल गया ..." को दो नारी पात्रों के माध्यम से विस्तार देते हुए कहा है कि --

" छूटते हुए घर जमीन जायदादें, खेत-खलिहान, सम्बन्ध रिश्ते-सारा परिवेश जो अस्तित्व की सांस-सांस से रचा-बसा है। एक पूरी सामन्ती दुनिया, जहाँ औरत या तो केवल एक वस्तु है या वस्तुओं से ऐसी चिपकी है कि उन्हीं का एक हिस्सा हो गयी है। ..... शारीरिक रूप से खुद मृत्यु को समर्पित, अपने से जुड़े पुरुषों के माध्यम से क्षण-क्षण भरती हुई ये नारियाँ रूमानी भावुकता और अशरीरी छायावादी सपनों के भरने की ही प्रतीक है? जैसा मैं ने कहा भी है लगता ऐसा है जैसे पाशों और शाहनी ही अपने परिवेश और जड़ों से टूटकर, शरीर छोड़कर निराकार, अनाक्रामक छायाओं के रूप में फिर से वहीं जीवन पाने के लिए व्याकुल है लेकिन वे सांस लेती है। अपनी सीमाओं में बंधे पुरुषों के हृदय की धड़कन बनकर ये निहायत संस्कारी, सम्भ्रान्त और शायस्ता लोग उन्हे जीवन शरीर नही दे पाते .... अनुभूतियों और स्मृतियों की झिझकती उंगलियों से सिर्फ एक दर्द की तरह उन्हें पकड़े रहने की कोशिश करते है।" [1]

---

1. औरों के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ. 41.

नारी की उपर्युक्त स्थिति की प्रतिक्रिया स्वरूप आज उसका एक निर्भीक, दबंग, बेबाक और बोल्ड .... तमक से सिर उठाए, समाज और पुरुष को ठेंगा दिखाती और ललकारती हुई .... एक साक्षात् गाली या गोली की तरह । उसके तेवरों और तरेर के सामने सास-ससुर के सम्बन्ध क्या, खुद उसका पति छोटा और ओछा पड़ जाता है । इसे भी मैं संयोग नहीं मानता .... । "[1]

राजेन्द्र यादव ने ऊपर की पंक्तियों में जो कहा है कि नारी का यह आक्रामक रूप संयोग नहीं है, यह बात कुछ हद तक सत्य भी है । क्यों कि नारी पर जितना अंकुश लगाए वह उतनी ही निरंकुश हो जाती है अर्थात् आज किसी बहू पर अत्याचार हो एवं उसपर सीमा से बाहर अंकुश लगाया जाए तो वही बहू कल सास बनकर निरंकुश एवं निर्मम सास बनती है । आज इनकी कला-साहित्य में नारी अपनी जरूरत को अपनी जबान में कहती है, अपनी भाषा में अपने होने की घोषणा करती है । इस स्थिति का जीता-जागता उदाहरण "जहाँ लक्ष्मी कैद है " की लक्ष्मी है । तो दूसरी ओर इनकी उपन्यास " एक इंच मुसकान " की अमला "शह और मात" की प्रिसेज अर्पणा है । दोनों ही परित्यक्ता है, पर बाद में पति माफी मांगकर जब अमला को वापस ले जाने को आता है तो वह इनकार कर देती है । प्रिसेज अर्पणा तो कुँवर को छोड़कर भी नहीं देखती । फिर भी ये दोनों स्त्री पात्र धनाढ्य परिवार से सम्पर्क रखती है, पर इनकी कहानी "लकड़हारा " की नायिका निम्न मध्य वर्गीय होकर भी गाँव के माहौल में दहेज के विरुद्ध आवाज़ उठाकर अपना

---

1. औरों के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ. 41.

विवाह रचवाती है । राजेन्द्र यादव ही क्यों इनके समकालीन कमलेश्वर की "काली आंधी " की नायिका का रूप भी इससे मिलता जुलता ही है ।

इन सब के जड़ में है नारी शिक्षा और नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता । इस प्रकार के नए विकास से नारी की स्थिति तद्नुकूल समाज की स्थिति सुधरनी चाहिए । पर इस प्रकार के विकास का नकारात्मक असर ही अधिक दिख पड़ता है । इसका प्रमुख कारण नारी की विनम्रता एवं संयम पर प्रश्नचिह्न लगना ? इसी के साथ स्त्री, पुरूष सम्बन्ध पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है । सामन्ती युग से आज तक पुरूषों का विवाहेत्तर सम्बंन्ध होना स्वभाविक है । पर आज स्त्रियों के भी इस प्रकार के सम्बन्ध देखे जा सकते है । जिस का कारण जो दिया जा रहा है उसे स्वीकार करना मुश्किल हो जाता है । राजेन्द्र यादव की - कुलटा " की नायिका मिसेज़ तेजपाल शिक्षित होने के बावजूद भी पति से शारीरिक रूप में असन्तुष्टि को कारण बताकर वायलीनिस्ट के साथ भाग जाती है । " उखड़े हुए लोग " की जया प्रत्यक्ष में तो शरद की विवाहिता पत्नी है पर अप्रत्यक्ष रूप में वह भी शरद के साथ घर छोड़ कर भागी हुई है और वास्तव में दोनों अविवाहित है । इससे भी दो कदम आगे मंत्रीवद्ध की सुरजीत है जो विवाहित तारक के साथ भागकर गैरकानूनी विवाह कर कलकत्ता भाग जाती है । ये सभी नारी पात्र शिक्षित है जो जीवन के दाँव पेचों को ज्यादा बेहतर ढंग से समझती है । पर सभी इनके मानसिक असन्तुलन का परिचायक है ।

सामन्ती युग में पुरूष के सम्मुख पत्नी और इससे इतर जो स्त्री उसके जीवन में है, उसका स्थान निश्चित है । पर आज स्वयं पुरूष दुविधा में है । " एक इंच मुसकान " का अमर यह समझ नही पाता कि वह रंजना ﴾ पत्नी ﴿ के साथ कैसे रहे और अमला के साथ कैसे ? इसका कारण वह आज नारी के इस नए रूप को स्वीकार करने में बडी दुविधा महसूस करता है जबकि उसे सुरक्षित महसूस करना चाहिए था । इसी कारण पुरूष एक शंका की मानसिकता का विकास करता है । जिसके तहत कहीं-कहीं तो वह गलतियाँ भी कर बैठता है । जैसे " टूटना " में लीना ﴾ पत्नी ﴿ का किसी के साथ हँस बोल लेने से किशोर के मन में शंका पैदा होती है । जिस कारण उनका विवाह ही टूट जाता है ।

इस प्रकार की सामाजिक विडम्बनाओं को राजेन्द्र यादव ने बड़े सजीवता के साथ अपने उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से वर्णित किया है । जिसे पढ़कर कोई भी पाठक ये महसूस किए बिना नही रह सकता कि उसके साथ या उसके अगल-बगल में भी तो ऐसा ही हो रहा है । इस स्वाभाविकता का कारण है राजेन्द्र यादव स्वयं इस प्रकार के माहौल में शायद जी रहे है ।

राजेन्द्र यादव के कथा साहित्य की अपनी कुछ विशेषताएँ भी है । जिसके शुरू में उनकी कथासाहित्य के प्रति दृष्टिकोण को देखना जरूरी है । वे कथा साहित्य के बारे में कहते है कि " साहित्य मनुष्य की सपना देख सकने की क्षमता, आकांक्षा और सम्भावना को जीवित

रखता है । इस जिम्मेदारी को पिछले कई दशकों में केवल कथा साहित्य ने निभाया है ।" 1

अच्छे लेखन के लिए एक सुनिश्चित दृष्टिकोण का होना आवश्यक है अपने व्यक्तिगत अनुभवों को अपने परिवेश के बड़े अनुभवों से जोड़ने के बाद ही वह बन पाता है । अनुभवों का निजी या स्वानुभूत होना ही पर्याप्त नहीं है । उससे तटस्थ होकर व्यापक संदर्भों में उसे परिभाषित करना और अपने समय के प्रासंगिक चिन्तन के सन्दर्भ में उसको समझ सकना ही उसकी प्रामाणिकता है । दूसरे शब्दों में वही अनुभूति की प्रामाणिकता ठीक समझी जा सकती है जो सारी स्थितियों को विश्वसनीय बना सकने में समर्थ है । इसके अभाव में लेखक कुछ खास लटकों (भावुकता) का प्रयोग करता है । राजेन्द्र यादव को ऐसी भावुकता खीझ लगती है । इसी के साथ " यथार्थ " का सवाल आ जुड़ता है । जिसके लिए लेखक में तटस्थता का होना जरूरी है । जो राजेन्द्र यादव में है । उनके इस पक्ष को पुष्ट करने वाली शक्ति है उनकी स्वस्थ गतिशील सामाजिक कथा दृष्टि उन्होंने व्यक्ति और उसके परिवेश को उसकी वर्तमान स्थिति में देख उसे ज्यों का त्यों अभिव्यक्त किया है । उनके पास कोई पूर्वनिर्दिष्ट दृष्टि तो भी नहीं और न ही किसी आज की समस्या को बीते कल के परिप्रेक्ष्य में देखा है । समाज की अनेक स्थितियों एवं समस्याएँ विशेषकर जो नई

---

1. प्रेमचन्द की विरासत : राजेन्द्र यादव - पृ. 41.

पीढ़ी से सम्बन्धित है उसे राजेन्द्र यादव ने आज ही की स्थिति में देखा है, बेशक उनके जमाने को दृष्टि में बिलकुल नही रखा है ।

राजेन्द्र यादव ने साहित्य के क्षेत्र में राजनीति से बिचके नही है बल्कि कहते है कि " कलाकार का काम राजनीति से असम्पृक्त रहकर कलाकृतियों का सृजन मात्र है और युद्ध तथा राजनीति से कुछ लेना या देना नहीं । "[1] इस परिप्रेक्ष्य में वे यशपाल के प्रशंसक भी जान पड़ते है । क्यों कि यशपाल ने बहुत साहस के साथ भिन्न राजनीतिक विचार धारा के साथ (मार्क्स) सामयिक प्रश्नों और सामाजिक विसंगतियों का सामना किया । राजेन्द्र यादव का कहना यह है कि राजनीति, सत्ताधारी पार्टी इत्यादि से लेखक को कोई सरोकार नही पर इस राजनीति का समाज पर जो " प्रभाव पड़ता है उससे तो लेखक का सीधा-सीधा सम्बन्ध होता है । इसी लिए उनका मानना है कि राजनीति के आधार पर सामाजिक प्रश्नों पर विचार करने में लेखक को बिलकुल हिचकिचाना नहीं चाहिए । उन्होंने स्वयं " उखड़े हुए लोग " उपन्यास में देशबन्धु जी जो राजनीतिक क्षेत्र में भी काफी प्रसिद्ध है । उनकी राज - नीतिक क्रियाकलापों को दृष्टि में रख लोगों ने उन्हें " नेता भैया " तक की पदवी दे दी है । उनका हमारे समाज पर जो असर है उसका राजेन्द्र यादव ने बड़ा सजीव चित्रण किया है ।

---

1. प्रेमचन्द की विरासत : राजेन्द्र यादव - पृ. 30.

राजेन्द्र यादव प्रत्येक क्षण में जीने की सलाह देते है । इसका कारण यह है कि आज जिन्दगी में इतनी अस्थिरता है कि प्रत्येक क्षण मूल्यवान है । एक क्षण " मिस " हो जाने पर मनुष्य का काफी नुकसान हो सकता है । आज जो कुछ इस क्षण है वह शायद दूसरे क्षण न रहे । इसीलिए वे कहते है कि कल किसी ने नहीं देखा, जो भी है अभी और आज ही कर डालना है .... भागो-भागो इस दफ्तर से उस दफ्तर .... एक मंत्रालय से दूसरे मंत्रालय, इस होटल से ... दूसरे होटल, टैक्सी, कार, टेलीफोन ..... गाड़ी धीमी मत करना ..... एक चक्कर में बीस हजार की बचत ...... ।"[1]

वे " अस्तित्व "(Entity) को बहुत महत्व देते है । हर व्यक्ति का अपना अस्तित्व है चाहे वो पुरुष हो चाहे स्त्री अगर कभी किसी ने उसके अस्तित्व को नकारा तो आज वह तिलमिला कर अपना " अस्तित्व बोध " कराने की कोशिश करेगा । इसीलिए " औरों के बहाने " के आरम्भ में उन्होंने सार्त्र के अस्तित्ववाद को समर्थित करते हुए लिखा है कि --

" अपने बारे में किसी भी सत्य को पाने के लिए मुझे दूसरे व्यक्ति के ही सम्पर्क में आना होगा । सिर्फ अपने अस्तित्व के लिए नहीं, बल्कि अपने-आपको समझने के लिए भी दूसरे का होना अनिवार्य है । दूसरे व्यक्ति के साथ-साथ मैं अपने अन्तर्व्यक्तित्व को भी तो अन्वेषित करता हूँ ।"[2]

---

1. औरों के बहाने : राजेन्द्र यादव - पृ. 75.
2. - वही - आरम्भ में ही ।

राजेन्द्र यादव का कहना है कि आज का युग कथा का युग है । दूसरे शब्दों में लोग कहानी एवं उपन्यास की ओर विशेष रूचि रखते है । जिस कारण उसका सम्प्रेषणीय होना आवश्यक है । आज के युग में विषय का सम्प्रेषणीय होना और जरूरी हो गया है क्यों कि आज की समस्याएँ अत्यन्त जटिल है । जिस कारण जटिल समस्याओं जो जीवन के गूढ रहस्यों से जुड़ी होती है उनकी अभिव्यक्ति सरल, सपाट एवं पारदर्शी भाषा में होना चाहिए । उनके मतानुसार इसका मतलब गढे हुए प्रतीको भाषा के खूबसूरत बल-बूटों या झटके द्वारा प्रयोग नही करने चाहिए । ये उनका मन्तव्य है पर वे स्वय उसके कायल नहीं रह पाते ।

राजेन्द्र यादव इतना कुछ लिख चुके है फिर भी उनमें एक बेचैनीहै कि वे " अपना " कहकर कुछ नहीं लिख पाए है । कहते है कि --

हाय, यह गददी यह पार्टी, यह मिल, यह नौकरी .... और नए से नए विचार आन्दोलन सभी कुछ दूसरों के पास है । मेरे पास कुछ नही है, ... दूसरे .... दूसरे ... दूसरे ये दूसरे कहाँ है ? किधर से आते है, कैसे आते है .... मै ही जब अपने-भीतर होता हूँ तो दूसरा होता हूँ बाहर होते ही दूसरों में होता हूँ ... मगर मै कहा हूँ ? मै एक साथ दूसरा हूँ और दूसरो के खिलाफ हूँ... मेरे व्यक्तित्व और मूल्यों का वह कौन सा हिस्सा है जो केवल मेरा " अपना " हूँ, दूसरा या दूसरों का नही है ...... और मै तय

करता हूँ कि, एक निहायत व्यक्तिगत प्रेम-कहानी लिखूँगा जो केवल दो व्यक्तियों के आसपास हो, केवल उनकी अपनी समस्याएँ हो वहाँ हो सब कुछ ऐसी बौद्धिक ऊंचाई से हो कि हीनता का मारा आलोचक उसके रेशे-रेशे में गहराई और युगबोध निकाल निकाल कर दिखा सके ।"[1]

राजेन्द्र यादव साहित्यकार के जिन्दगी की एक विडम्बना के बारे में कहते है । जहाँ साहित्यकार के मृत्यु के उपरान्त विभिन्न पुस्तकों में उनके लिए श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है । पर साहित्य में श्रद्धांजलि का अर्थ क्या है ? इसी का उत्तर देते हुए राजेन्द्र यादव कहते है कि " फूलों और आँसूओं का ढेर लगा कर श्रद्धास्पद व्यक्ति को ढक देना श्रद्धांजलि है या साहित्यकार के पुनर्मूल्यांकन की दिशा में लोगों का ध्यान आकर्षित करना ? सच पूछा जाए तो ..... इस खोज और विवेचना को मैं साहित्यकार के प्रति वास्तविक श्रद्धांजलि मानता हूँ, और यह कार्य वही कर सकता है, जो व्यक्ति और साहित्य दोनों से परिचित हो और इन दोनो में सन्तुलित सम्बन्ध खोजकर साहित्य की विशाल परम्परा में श्रद्धास्पद के स्थान का निरूपण कर सके । मैं यह नही कहता कि साहित्यकार के व्यक्तित्व पर न लिखा जाए, लेकिन हमारे यहाँ व्यक्तिगत संस्मरण, या व्यक्तित्व पर लिखे जाने वाले अधिकांश लेख विशेषकर मृत व्यक्ति पर लिखे जाने वाले लेख उस व्यक्ति को या तो आले में रखा हुआ देवता बना देते है, या ऐसा हवाई कि उसके वास्तविक अस्तित्व में विश्वास करना कठिन हो जाता है । ....

---

1. औरो के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ. 15-16.

मैं समझता हूँ कि अब समय आ गया है कि हम अपने साहित्य को मुर्दों और पण्डों का ही साहित्य न बनाए रखें और ईमानदारी से जो महसूस करते उसे सच्चाई से लिखें .... इसी पुस्तक की कुछ पंक्तियाँ हैं -- हम लोग किसी के मर जाने पर बहुत छाती-माथा करते हैं, मगर उसके जिन्दा रहने के अपराध को भी क्षमा नहीं कर पाते .... ।"[1]

---

1. औरों के बहाने - राजेन्द्र यादव - पृ. 204 - 205.

परिशिष्ट ﴾ ख ﴿

साक्षात्कार

मार्च 11, 12 तारीख 1995 को विमेन्स कॉलेज, कोठी ﴾ उस्मानिया विश्वविद्यालय ﴿ एवं केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने संयुक्त रूप से एक संगोष्ठी का आयोजन किया जिसका विषय था " समकालीन हिन्दी कहानी "। इस संगोष्ठी में भाग लेने के लिए राजेन्द्र यादव भी निमन्त्रित थे, जिस समय मैंने उनका इन्टरव्यूह लिया। जिसका कुछ हिस्सा मैं नीचे प्रस्तुत कर रही हूँ। सम्पूर्ण रूप में यह साक्षात्कार एक आडियो कैसेट में मेरे पास सुरक्षित है।

प्र॰ रचनाकार समाज से अपने लिए कथ्य चुनती है। ऐसे परिप्रेक्ष्य में रचनाकार एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में आपके विचार क्या है ?

उत्तर रचनाकार विशेषकर कहानीकार एवं उपन्यासकार का समाज के साथ, समाज के लोगों के साथ एक अन्तर्सम्बन्ध होता है। जहाँ से वह अपनी रचना के लिए कथ्य चुनता है। एक कहानी समाज के अन्दर और दूसरा समाज के बाहर चलती है। इन दोनों के बीच एक प्रकार का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। पर समाज का वर्णन कवि करता है तो वह उसमें कहीं दिखाई नहीं देता। जैसे आपका अपनी कविताओं में कहीं दिखाई नहीं देता फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से अपनी कविताओं में शामिल है।

कोई भी लेखक अपना वर्तमान लिखता है। चाहे वह पौराणिक या ऐतिहासिक कृति की रचना करना चाहे पर वह वर्तमान को ही लिखता है। जैसे प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटक लिखे, आधार बेशक इतिहास रहा हो, पर वह वर्तमान ही था, क्योंकि प्रसाद ने जिस काल में रचना की, तब विदेशी शासक भारत को गुलाम बनाए हुए थे, तद्नुकूल उन्होंने इतिहास को आधार बना कर तत्कालीन परिस्थिति से भारतीयों को अवगत कराने का प्रयत्न किया।

प्रश्न· आपने अपनी कुछ रचनाओं में परम्परा को बहुत महत्व दिया है -- तो दूसरी ओर परम्परा की अवहेलना करते हुए पीढ़ी संघर्ष को भी दिखाया है ?

उत्तर· हमारा समाज वर्गों में बंटा हुआ है, जहाँ पूंजीवादी मूल्य चेतना की समस्या कम है पर सामन्ती मूल्यों की समस्या अधिक है । इसका कारण यह है कि हम बड़ी आ आसानी से सामन्तीमूल्य, जिसे हम परम्परा कहते है, छोड़ नहीं पाते । ये परम्परागत मूल्य टेस्टेड मूल्य है जिसमें हम सुरक्षित महसूस करते है । पर वहीं नई पीढ़ी इसे स्वीकार नहीं करती, क्यों कि वह इस बात पर विश्वास रखती है कि अब यह परम्परागत मूल्य चलने वाले नही है । जैसे कि "सारा आकाश " में समर की स्थिति है । उसका परिवार सामन्ती मूल्य को मानता है । पर समर तोड़ना चाहता है क्यों कि उसमें उसके गुण, टेलेन्ट इत्यादि दब रहे है ।

प्रश्न· " उखड़े हुए लोग " उपन्यास में आपने शरद के माध्यम से लोगों को अपने जमीन से उखड़ते हुए दिखाया है -- इस परिप्रेक्ष्य में हमारी परम्परागत मूल्यों की स्थिति क्या है ?

उत्तर· परम्परागत मूल्य के अनुसार कितनी ही तकलीफ क्यों न हो मनुष्य को अपने जमीन से बाहर नहीं जाना चाहिए। पर दुनियाँ का विकास उन लोगों से कभी नहीं हुआ जो अपने घर के अन्दर बंद थे, जो अपनी मानसिकता में परिवर्तन लाना नही चाहते थे। परन्तु जिन लोगों ने अपनी मान - सिकता बदली और अपने जमीन में अपना विकास न पाकर और जगहों में गए उन्ही के जरिए देश का विकास हुआ।

प्रश्न· इस परम्परागत मूल्य और आधुनिक मूल्यों के बीच जो संघर्ष चल रहा है उसमें नारी की स्थिति भारत में क्या है?

उत्तर· परम्परागत मूल्य के अनुसार स्त्री का जरा भी अपनी जरूरत बताना गुनाह है। तब तो एक कहावत थी कि हँसी यानि फँसी। इस हद तक उस पर बन्दिशें थी। ऐसी परि - स्थिति में आज उन्हें हर क्षेत्र में अचानक स्वतन्त्रता देना तो मुश्किल है। वह स्वयं भी आधुनिक मूल्यों को अपनाने और नही अपनाने की दुविधा में फँसी हुई है। पर उसे बौद्धिक धरातल पर उसे स्वतन्त्र बनाने का कार्य शुरू हो चुका है। पर विकास के विषय में जैसे कि कहा गया है कि एक कदम आगे बढो तो दो कदम पीछे हटना पड़ता है अर्थात् विकास एक "जीगजैक मुवमेन्ट" है। उसी प्रकार की गति नारी स्वतन्त्रता के क्षेत्र में भी है।

प्रश्न· आज की स्थिति में आपके पुरूष पात्र अन्तर्विरोधों में घिरे से दिखते है, इसका क्या कारण है ? वे किसी एक छोर को पकड़ते है ?

उत्तर· उनमें किसी प्रकार का अन्तर्विरोध या द्वन्द्व नही है । ये बात उनमें तब तक देखी जा सकती है जब तक वे सन्देह की स्थिति में है । जैसे ही उनके सामने स्थिति साफ हो जाती है वैसे ही वे भी नार्मल हो जाते है । जब तक पुरूष के मन में यह सन्देह है कि उसकी स्त्री, बेटी या बहन का पर पुरूष से सम्बन्ध है तब तक उसमें अन्तर्विरोध है । पर जैसे ही बात स्पष्ट हो जाती है तो समस्त द्वन्द्व भी समाप्त हो जाते है ।

प्रश्न· आज की स्थिति में स्त्री-पुरूष सम्बन्धों के बारे में आपके क्या विचार है ?

उत्तर· आज स्त्री-पुरूष के सिर्फ तीन प्रकार के सम्बन्ध हो सकते है । कोई चौथा नही हो सकता ।

1· पुरूष, स्त्री को पत्नी बनाकर उसे और उससे होने वाले बच्चों को अपना नाम देकर सामाजिक सम्मान देता है ।

2· पुरूष स्त्री को हर तरह से सुरक्षित करता है पर उसे और उससे होने वाले बच्चों को अपना नाम देकर सामाजिक सम्मान नहीं देता । ये रखैल की स्थिति है ।

3· जहाँ स्त्री अपनी जीविका के लिए एक से अधिक पुरूषों से सम्बन्ध रखती है । यह वैश्या की स्थिति है । पर अब कोई चौथा सम्बन्ध नही होता । इन्डस्ट्रीयल समाज ने व्यक्ति को चुनाव की स्वतन्त्रता दी है । जहाँ मैत्री का सम्बन्ध अपने आप सामने आता है ।

प्रश्न· यह मैत्री का सम्बन्ध पुरूष बनाए तो समाज उसे किसी हद तक स्वीकार करती हैपर स्त्री बनाए तो स्वीकार नहीं करती - कारण क्या है ?

उत्तर· आज चुनाव की स्वतन्त्रता होने के कारण ही एक अफसर पर पद आसीन स्त्री जो अपने से कम ओहदे वाले चपरासी से भी सम्बन्ध (शारीरिक भी) रख सकती है । इस रिश्ते को क्या नाम दिया जाए ? इसे मैत्री से ऊपर कुछ नही कहा जा सकता ।

प्रश्न· तो आप स्वीकार करते है कि हमारा समाज Male Dominated है ?

उत्तर· हाँ ! स्त्री को उस स्थिति में लाने में वक्त लगेगा । आज तक पुरुष के पुरूषत्व मे वृद्धि के लिए दवाईयाँ और टॉनिक इजात किए गए है पर स्त्रियों के लिए सिर्फ प्रसाधन की वस्तुए । इसका कारण यह है कि वह हमेशा पुरूष के सामने सुन्दर और आकर्षक दिखे ।

प्रश्न· आपके कुछ उपन्यासों एवं कहानियों में अश्लील वर्णन देखे गए है ? इसका क्या कारण है ?

उत्तर· भारत में लोग अपनी नित्यवृत्ति (मलमूत्र विसर्जन) के लिए तो खुले आम सड़कों का प्रयोग करते है पर अगर एक प्रेमी युगल खुले आम चुम्बन लेकर अपना प्रेम इज़हार करे तो क्या गलत है ?

प्रश्न· आपकी यह बौद्धिकता आपकी रचनाक्रम में साधक सिद्ध होती है या बाधक ?

उत्तर· यह साधक या बाधक कुछ नहीं । यह एक रॉ मैटिरियल है । जिसे कभी कहानी के रूप तो, कभी उपन्यास के रूप, में किसी न किसी रूप में मोल्ड (Mould) करता हूँ ।

संदर्भग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1· सुजाता की डायरी : शह और मात
राजेन्द्र यादव
तृतीय संस्करण - 1974
अक्षर प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड
2/3 अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली - 6·

2· अठारह उपन्यास
राजेन्द्र यादव
प्रथम संस्करण - 1981
अक्षर प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड
2/3, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली - 6

3· सारा आकाश
राजेन्द्र यादव
कापी राइट - 1951
अक्षर प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड
2/3, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली - 6

4. अनदेखे अनजान पुल
राजेन्द्र यादव
कापी राइट 1969
अक्षर प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड,
2/3, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली - 6.

5. उखड़े हुए लोग
राजेन्द्र यादव
प्रथम संस्करण,
अक्षर प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड,
2/3, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली - 6.

6. कुलटा
राजेन्द्र यादव
प्रथम संस्करण 1958
अक्षर प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड,
2/3, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली - 6.

7. मंत्रविद्ध
राजेन्द्र यादव
प्रथम संस्करण 1967
अक्षर प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड,
2/3, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली - 6.

8• एक इंच मुसकान (सम्मिलित)
प्रथम संस्करण – 1991
राजपाल एण्ड सन्ज़

9• मेरी तेरी उसकी बात
यशपाल भण्डारी
प्रथम संस्करण 1973
लोकभारती प्रकाशन

10• जुगलबन्दी
गिरिराज किशोर
प्रथम संस्करण – 1973
राजकमल प्रकाशन

11• सुखदा
जैनेन्द्र कुमार
1979
पूर्वोदय प्रकाशन

12• व्यतीत
जैनेन्द्र कुमार
तृतीय संस्करण 1975
पूर्वोदय प्रकाशन

13. नदी के द्वीप
अज्ञेय
कापीराइट - 1951
सरस्वती प्रेस

14. मय्यादास की माड़ी
भीष्म सहानी
प्रथम संस्करण 1988
राजकमल प्रकाशन

15. लाल टीन की छत
निर्मल वर्मा
द्वितीय संस्करण 1977
राजकमल प्रकाशन

16. एक चिथड़ा सुख
निर्मल वर्मा
द्वितीय संस्करण - 1982
राजकमल प्रकाशन

17. आधा गाँव
राही मासूमरज़ा
तृतीय संस्करण - 1975
राजकमल प्रकाशन

18. सोन 75
राही मासूम रज़ा
तृतीय संस्करण - 1975
राजकमल प्रकाशन

19. गुनाहों का देवता
धर्मवीर भारती
16 - 1981
भारतीय ज्ञान पीठ

20. वे दिन
निर्मल वर्मा
प्रथम संस्करण - 1987

21. सत्यहरिश्चन्द्र संकलनकर्त्ता तथा संपादक
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड)
शिव प्रसाद मिश्र
द्वितीय संस्करण - 2031
राजकमल प्रकाशन, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

27· छायावाद का समाजशास्त्र
डॉ·शशिमुदिराज
प्रथम संस्करण - 1988
परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद

28· साहित्य का समाजशास्त्र
डॉ· नगेन्द्र
प्रथम संस्करण - 1982
नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली

29· साहित्य का समाजशास्त्र : मान्यता एवं स्थापनाएँ
श्रीराम मेहरोत्रा
प्रथम संस्करण - 1980
रचना प्रकाशक, वाराणसी

30· मध्यवर्गीय चेतना और : हिन्दी उपन्यास
भूपसिंह भूपेन्द्र
प्रथम संस्करण - 1987
श्याम प्रकाशन, जयपुर

31· उपन्यास का सिद्धान्त
जार्जलुकाच
§ हि· अनुवाद - आनन्द प्रकाश §
प्रथम संस्करण - 1981
मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली

32· साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
मैनेजर पाण्डेय
प्रथम संस्करण – 1989
हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित

33· साठोत्तर हिन्दी उपन्यास : प्रतिपाद्य एवं शिल्प
डॉ· टी·मोहन सिंह
प्रथम संस्करण – 1987
दक्षिणांचलीय साहित्य समिति, हैदराबाद

34· स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास एवं बिहार का योगदान
डॉ· कुंवलपाल सिंह
1976
हरीराम द्विवेदी, पाण्डुलिपि, प्रकाशन, दिल्ली

35· हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना
डॉ· कुंवलपाल सिंह
1976
हरीराम द्विवेदी पाण्डु लिपि, प्रकाशन, दिल्ली

36· मुक्तिबोध की कविता : समाजशास्त्रीय अध्ययन
डॉ· मीना आहूजा
1991
इन्द्र प्रस्थ प्रकाशन

37. मुक्तिबोध रचनावली भाग - 5
अभिव्यक्ति प्रकाशन, नई दिल्ली
राजकमल

38. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र
प्रगति प्रकाशन, मास्को

39. प्रेमचन्द : विविध प्रसंग
राजेन्द्र यादव
द्वितीय संस्करण - 1971
अक्षर प्रकाशन

40. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि
मोहन राकेश
प्रथम संस्करण - 1973
राजपाल प्रकाशन

41. मोहन राकेश का साहित्य : समग्र मूल्यांकन
पुल्लो मारत शरद चन्द्र
शोध प्रबन्ध, कलकत्ता विश्वविद्यालय

42. आधुनिकता एवं मोहन राकेश
उर्मिला
प्रथम संस्करण - 1979

43· प्रेमचन्द : प्रतिनिधि कहानियाँ
प्रेमचन्द
द्वितीय संस्करण - 1970
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद

44· प्रेमचन्द की विरासत
राजेन्द्र यादव
प्रथम संस्करण - 1973
अक्षर प्रकाशन

45· स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानव मूल्य एवं
उपलब्धियाँ
डॉ· भगीरथ बड़ोले
प्रथम संस्करण - 1983
स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद

46· हिन्दी लघु उपन्यास : घनश्याम " मधुप "
1971
राधाकृष्ण प्रकाशन

47· स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास
डॉ॰ रामगोपाल सिंह चौहान
1965
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

48· हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण
महेन्द्र चतुर्वेदी
1962
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

49· व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास
डॉ॰ पुरुषोत्तम दुबे
1973
अनुपमा प्रकाशन, बम्बई ।

50· हिन्दी उपन्यास की शिल्प विधि का विकास
डॉ॰ ओम शुक्ल
1969
अनुसंधान प्रकाशन

51· हिन्दी उपन्यासों का शिल्पगत विकास
डॉ॰ उषा सक्सेना
1972
शोध साहित्य प्रकाशन

52· संवाद एवं संवाद दाता
राजेन्द्र यादव
1973
अक्षर प्रकाशन

53· स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में
शिल्पविधि का विकास
डा·तहसीलदार दूबे
1983
नटराज पब्लिशिंग हाउस, करनाल (हरियाणा)

54· हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास
रणवीर रांग्रा
1961
भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली ।

55· हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य
प्रेम भटनागर
1968
अर्चना प्रकाशन, जयपुर

56· हिन्दो उपन्यास
डॉ· सुरेश सिन्हा
1972 तृतीय
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

57· उपन्यास और लोक जोवन (रैल्फ फॉक्स)
हिन्दो अनुवाद : नरोत्तम नागर
1980 प्रथम
पोपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

58· The Alternative Future.
Roger Garaudy.
1975 प्रथम

59· The Writers Creative
Individuality and the
development of Literature
M. Khrapchenko
कापीराइट 1977. Printed in the
Union of Soviet Socialist Republics.

60· संरचनात्मक शैलो विज्ञान
डॉ· रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव
द्वितोय प्रकाश संस्करण - 1979
आलेख प्रकाशन, दिल्ली ।

61. Towards the sociology of the Novel (Translated from the French by Alan Sheridan)
Lucian Goldman.
1975. Tavistock Publication
London.

62. शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका
रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव
प्रथम संस्करण – 1981
आलेख प्रकाशन

63. शैली विज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र
सत्यदेव चौधरी
तृतीय संस्करण – 1982
पोपुलर पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

64. शैली विज्ञान
भोलानाथ तिवारी
द्वितीय संस्करण – 1983
शब्दकार, 2203, गली डकौतान, दिल्ली – 110 006.

65. Russian Formalist
Erlich Victor
1977 Second.

66. Complete works.
A.S. Pushkin
Vol. 12.

67. The Art of the Novel
H.B. Lathrope.

68. साखी (द्वैमासिक, अक्तूबर - दिसम्बर 1992)
सम्पादक - केदारनाथ सिंह
प्रेमचन्द साहित्य संस्थान

69. पूर्वग्रह - 46-47 अंक
(द्वैमासिक)
सम्पादक - अशोक बाजपेयी
मध्य प्रदेश कला परिषद का प्रकाशन

70. शीराज़ा (हिन्दी)
(द्विमासिक पत्रिका, अप्रैल - मई - 1989)
सम्पादक - मुहम्मद युसुफ टैंग एवं ओम गोस्वामी
प्रकाशन - जे. एण्ड के. एकाडमी ऑफ आर्ट, कल्चर
एण्ड लैन्ग्वेज, जम्मू से प्रकाशित

71· औरों के बहाने
राजेन्द्र यादव
संस्करण तृतीय 1985 जनवरी
अक्षर प्रकाशन प्रा·लि· 2/36 अन्सारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110 002·

72· हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ
डॉ·शिव कुमार शर्मा
बारहवाँ 1990
अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली - 6·

73· स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास
﴾ 1947 से आज तक ﴿
डॉ·लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
द्वितीय संस्करण, 1988
राजपाल एण्ड सन्ज़